मुद्रक तथा प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

[भारत-सरकारद्वारा उपलब्ध कराये गये रियायती
मूल्यके कागजपर मुद्रित]

सं० २०३८ प्रथम संस्करण २०,०००

मूल्य ८० पैसे

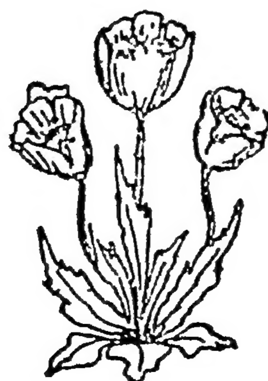
पता—गीताप्रेस, पा० गीताप्रेस (गोरखपुर)

भूमिका

आजकल हमारे देशकी सबसे बड़ी आवश्यकता लोगोंको संयम, सदाचार, कर्तव्यनिष्ठा, सब प्राणियोंसे प्रेम, देशभक्ति और परोपकार सिखानेकी है। ये ही सब धर्मोंके महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं, किन्तु वर्षोंसे हम इनकी अवहेलना करते आ रहे हैं। इसी उद्देश्यकी पूर्तिके लिये 'श्रीकृष्णका आह्वान' नामक पुस्तक प्रकाशित की जा रही है। इसमें प्रतिपादित विचार साम्प्रदायिकता और कट्टरतासे पूर्णतया परे हैं। इसके प्रत्येक प्रसङ्गोंपर प्रतिष्ठित संतों-विद्वानोंका पूर्ण समर्थन प्राप्त है, अतः यह पुस्तक शास्त्रानुकूल तर्क-संगत, प्रामाणिक और सबके लिये हितकर है।

आशा है, हमारे पाठक इसके अध्ययन-मनन एवं चिन्तन द्वारा वास्तविक सुख-शान्तिकी उपलब्धि करेंगे।

—प्रकाशक



अनुक्रमणिका

विषय			पृष्ठ-संख्या
१–पूजाधर्म और सेवाधर्म	...	...	५
२–बहुमुखी सतत उपासना	...	...	२४
३–उत्कृष्टताका दिव्य सन्देश	...	...	४०
४–यज्ञ-सहकारिताका विधान	...	...	५२
५–प्रकाशमय ज्ञानदीप	...	...	६६
६–वेदान्तका अर्थशास्त्र	...	..	८३
७–आध्यात्मिकताका रहस्य	...	...	९७
८–मानवका आध्यात्मिक उत्थान	...	...	११३



पूजाधर्म और सेवाधर्म

श्रीकृष्णके प्रिय मित्र अर्जुन एक उलझनमें फँसे हुए थे। सांसारिक कर्तव्यका पालन करते हुए युद्धमें तत्पर होकर अपने सगे-सम्बन्धियोंकी हत्या की जाये अथवा युद्धका परित्याग करके साधु-सन्यासीका जीवन अपनाया जाये। वस्तुतः यह समस्या हमारे धर्मके सामने आदिकालसे चली आ रही है। गीताका मुख्य विषय इस समस्याको सुलझाना है। अन्ततः श्रीकृष्णके उपदेशसे प्रभावित होकर अर्जुनने संन्यासकी अपेक्षा युद्धरत होनेके कर्तव्यको श्रेयस्कर समझा।

गीताने सांख्ययोग और कर्मयोग दो अलग-अलग मार्गोंको मान्यता दी है।

"इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गयी है, ज्ञानियोंकी ज्ञानयोगसे और योगियोंकी निष्काम कर्मयोगसे।

(३-३)

साख्य-मार्गमें लौकिक कर्मोंका लगभग पूरा परित्याग करके धार्मिक कृत्योमें तल्लीन रहना पड़ता है। कर्म-मार्गमें लौकिक कर्तव्योके साथ-साथ धार्मिक कृत्योको भी स्थान दिया जाता है। इन मार्गोंको पूजाधर्म और सेवा धर्म भी कहा जा सकता है।

जीवन-रक्षा आवश्यक है

यह मानी हुई बात है कि केवल जीवित व्यक्ति ही बढ सकता है और अपना विकास कर सकता है—देहरहित आत्मा या आत्मा-रहित देह नहीं। इसलिये देह और आत्माको साथ-साथ बनाये रखना प्रत्येक व्यक्तिका परम कर्तव्य हो जाता है। इस प्रसंगमें दूसरा तथ्य यह है कि जीवितावस्थामें हर व्यक्ति सामूहिक जीवन-पर आश्रित रहता है। प्रत्येक व्यक्तिको अपने-अपने परिवेशसे, मूक पशुओसे और अपने सहवर्ती मनुष्योसे अनेक वस्तुओकी आवश्यकता पड़ती है। अतएव परिवेश और समाजकी ठीक दशामें बनाये रखनेवाले कार्य हमारा दूसरा महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व है। धार्मिक कृत्य महत्त्वपूर्ण होते हुए भी बादमें आते हैं। यह भगवान्-का विधान है और इसमें खलल डालनेके परिणाम विनाशकारी ही होंगे।

अत्यधिक सम्पत्ति और निर्धनता दोनोसे बुराइयॉ उत्पन्न होती हैं। जीवनकी मूलभूत आवश्यकताओ—भोजन, कपडा, मकान और शिक्षाके अभावमें दुराचार, अनैतिकता और जुर्मोंकी उत्पत्ति होती है। जिस समुदायके बहुत-से सदस्य आलसी, कामचोर

या परान्नभोगी हो वह समाज न तो सुखी रह सकता है और न उन्नति ही कर सकता है। समाजके प्रत्येक सदस्यके परिश्रम और योगदानसे ही सब लोग समुचितरूपसे जीवन व्यतीत कर सकेंगे तथा सदाचार और धार्मिकताको बढ़ावा मिल सकेगा।

आध्यात्मिकताके लिये ठोस भौतिक आधार तभी बन सकेगा जब नागरिकोंको आवश्यक सुख-सुविधाएँ मिलें और लोग छोटी-छोटी चिन्ताओंसे मुक्त होकर जीवन-यापन कर सकें। इसीलिये प्राचीन ऋषियोंने जीवनके चार मुख्य लक्ष्योंमें अर्थ (सम्पत्ति) और काम (सुख) को शामिल किया है।

अधिकांश लोगोंका विश्वास है कि सांसारिक व्यवस्थाको सुचारुरूपसे चलाने और जीवनको कायम रखनेका काम —जिसे गीतामें लोक-संग्रह कहा गया है, आध्यात्मिक उन्नतिके लिये अहितकर है। अतएव बहुत-से लोग इन कामोंको व्यर्थ मानते हैं; क्योंकि इनमें लगनेसे मनुष्य धार्मिक कृत्योंसे दूर हटता जाता है। यह विश्वास भ्रान्तिपूर्ण है। वास्तविकता तो यह है कि लोक-संग्रह जीवनकी आवश्यकताओंको पूरा करनेके साथ-साथ दैवी गुणोंको प्राप्त करने और सत्कर्मोंकी आदत डालनेका एकमात्र साधन है। जीवनके इन कर्तव्योंकी अवहेलना करनेसे अनाचार और पाप बढ़ते हैं, जिनके तथा अकर्मण्यताके फलस्वरूप समाज अस्त-व्यस्त होकर अन्ततः नष्ट हो जाता है।

धर्मका तीन चौथाईसे ज्यादा अंश सांसारिक कार्योंपर अवलम्बित है और मनुष्य इन कामोंको सुचारुरूपसे करके ही

आध्यात्मिकता प्राप्त कर सकता है। शास्त्रोंके अनुसार धर्मके चार चरण हैं—सत्य, शौच, दान और तपस्या। पूजा, जप आदि कृत्य 'तपस्या' के अन्तर्गत आते हैं, इसलिये इन सबको मिलाकर भी धर्म-का एक चरण मुश्किलसे बनता है। अन्य तीन चरणोंके सहयोगके बिना और केवल तपस्यापर आधारित धर्म मानव-समाजका भार वहन करनेमें एकदम असमर्थ रहेगा।

स्वामी विवेकानन्दने कहा—"देशमें जबतक एक कुत्ता भी भूखा रहेगा, मेरा सारा धर्म यही होगा कि उसे खाना खिलाया जाय।" महात्मा गाँधीने भी कहा था कि निर्धन व्यक्तिके लिये अर्थ ही आध्यात्मिकता है। इन लाखों भूखें लोगोंसे आप और कोई अपील नहीं कर सकते; उसको अनसुनी कर देंगे। उनके पास मैं कामके पवित्र संदेशके साथ ही भगवान्‌का संदेश ले जा सकता हूँ। अच्छा नाश्ता कर लेनेके बाद तथा और भी अच्छे भोजनकी आशा-में बैठकर ईश्वरकी चर्चा करना आसान है। पर इन असंख्य लोगों-से, जिन्हें दो जून भोजन भी नहीं मिल पाता, मैं ईश्वर की चर्चा किस प्रकार करूँ? इनके सामने भगवान् रोटी-दालके रूपमें ही आ सकता है।

आध्यात्मिकताका विकास तभी हो सकता है जब पूजा-धर्म और सेवा-धर्मका सम्यक् सन्तुलन जीवनमें हो। पूजाको सेवामें फलीभूत करना चाहिये और सेवा इस भावनासे करनी चाहिये मानो ईश्वरकी आराधना कर रहे हों।

पूजा और सेवा समान हैं

मानव-जीवन परमात्माकी अनुपम देन है । इसके लिये गीतामें 'शरीर-यात्रा' शब्दका प्रयोग किया गया है (३ । ८) सारा संसार ईश्वरसे ओत-प्रोत है । इसलिये संसारमें रहना सचमुच एक यात्रा, एक पुण्य कार्य और पूरी-पूरी आराधना ही है । जिन कामोंसे जीवनका अनुक्षण होता है, वे पूजाके लिये आवश्यक ही नहीं, अपितु स्वयंमें पूजा हैं । इस प्रकारके कार्य उस परमेश्वर-की उपासना है जो सब जीवोंमें आसीन और सर्वव्यापी हैं । गीता-में श्रीकृष्णने कहा है ।

"इससे तू अनासक्त हुआ निरन्तर कर्तव्यकर्मका अच्छी तरह आचरण कर; क्योंकि अनासक्त पुरुष कर्म करता हुआ परमात्माको प्राप्त होता है (३—१९) ।"

इसी प्रकार आगे चलकर श्रीभगवान्‌ने पुनः आदेश किया है—

अर्थात्—"प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने कर्ममें तन्मय होकर परम सिद्धिको प्राप्त कर लेता है; क्योंकि उसीके द्वारा वह ईश्वरकी पूजा करता है । जिससे प्राणिमात्रकी प्रवृत्ति हुई है और जो सभी जीवोंमें व्याप्त है ।" (१८ । ४५-४६)

गीताके कई अन्य श्लोकोंमें भी यही उपदेश दिया गया है—

"बालबुद्धिवाले न कि ज्ञानी सांख्य और योगको अलग-अलग समझते हैं । जो एकमें दृढ़ है वह दोनोंके फल पाता है । जिस

स्थानपर सांख्य पहुँचते हैं, वहीं योगी भी पहुँचते हैं। जो दोनोंको (फलरूपसे) एक देखता है, वही यथार्थ देखता है।"

कर्मफलकी आशा न कर जो अपना कर्तव्य पालन करता है, वह सन्यासी और योगी दोनो है। मात्र यज्ञ और कर्मका त्याग करनेवाला सन्यासी नहीं है। अतः हे अर्जुन! जिसको लोग संन्यास (सांख्य) कहते हैं वही योग है, क्योंकि स्वार्थपूर्ण इच्छाओंके त्यागके विना कोई योगी नहीं बन सकता।

स्वामी विवेकानन्दने बड़े जोरदार शब्दोंमें कहा था—

चाहे किसी व्यक्तिने एक भी दर्शनशास्त्र न पढ़ा हो, चाहे वह किसी देवताको न मानता हो और न पहले कभी माना हो, चाहे उसने जीवनभर प्रार्थना न की हो, फिर भी यदि उसने अच्छे कर्मोंकी शक्तिद्वारा ऐसी अवस्था प्राप्त कर ली है कि वह अपना जीवन और सर्वस्व दूसरोंके लिये वलिदान करनेके लिये तैयार है, तो उसको वही स्थान मिल गया है जहाँ कोई भी भक्त अपनी प्रार्थनाओंद्वारा और दार्शनिक अपने ज्ञानद्वारा पहुँचता है।

आध्यात्मिकताके नियम

पूजा-धर्म हमारे धर्मकी विशिष्टता है और शास्त्रोंने इसपर जितना बल दिया है, वह उचित ही है। पर इससे यह नहीं मान लेना चाहिये कि शास्त्र सेवा-धर्मको अनुपयोगी या ध्यान साधनाके लिये तैयारी मात्र मानते हैं। शास्त्रोंने साफ-साफ शब्दोंमें इस बातकी घोषणा की है कि सेवा ही आध्यात्मिकताका प्राण और धर्मकी धुरी है।

शरीर, वाणी और मनद्वारा किए हुए तपकी क्रमशः पूजा, जप और ध्यान बताते हुए गीतामें तपस्याको तीन श्रेणियोंमें बाँटा गया है—

"पूर्वोक्त तीन प्रकारके तप जो साधक अगाध श्रद्धाके साथ निष्कामभावसे करता है, उस तपस्याको सात्त्विक कहते हैं। जो तप सत्कार, मान और पूजा प्राप्त करने या दिखावेके लिये किये जाते हैं एवं जो अस्थायी या क्षणिक है, वह राजस कहे गये हैं। भ्रान्त बुद्धिसे, स्वयंको यातना देकर या दूसरोंके अनिष्टके लिये किया गया तप तामस कहा गया है। (१७ । १७–१९)

गीताने समस्त कार्यों और, कार्य करनेवालोंको तीन श्रेणियोंमें रखा है—सात्त्विक, राजसिक और तामसिक (१८ । २३, २८)। भागवतमें श्रीकृष्णने भक्तोंको तीन प्रकारका बताया है—

"जब स्त्री या पुरुष मेरी पूजा अत्यन्त निष्ठासे करते हैं और बिना स्वार्थके अपना कर्तव्य पालन करते हैं तब उनको सात्विक प्रवृत्तिका जानना चाहिये।"

"जब वे धन या वरदान अथवा अपनी कामना-पूर्तिके लिये मेरी पूजा करते हैं तब उनको राजसिक प्रवृत्तिका और जब वे मेरी पूजा दूसरोंको क्षति पहुँचानेके प्रयोजनसे करते हैं तब उन्हें तामसिक प्रवृत्तिका जानना चाहिये।"

सत्त्वसे आध्यात्मिक विकास होता है, तामससे ह्रास होता है और राजससे मनुष्य गतिशील होते हुए भी प्रगति नहीं कर पाता। इससे यह स्पष्ट है कि आध्यात्मिकताकी कुञ्जी पूजा नहीं, बल्कि

निःस्वार्थ सेवा है। अहंकारी, लोभी या भ्रष्ट व्यक्ति जप, ध्यान या पूजाकी मात्रा बढ़ानेसे न तो सात्त्विक बन सकता है और न अपनी आध्यात्मिक उन्नति कर सकता है। यह तो तभी सम्भव है जब वह व्यक्ति बुरी आदतोंका परित्याग करे और आत्म-संयम, दया, दान, कर्तव्यपालन और सदाचारका मार्ग अपनाये।

अपने पितृ, गुरु या साधुओंकी आत्माकी आरती, भजन या ध्यानद्वारा उपासना करना, परन्तु उनके जीवन-कालमें उनके खान-पान, सुख-सुविधापर ध्यान न देना हास्यास्पद नहीं तो और क्या है? परम-आत्माकी आराधना करना, किन्तु ईश्वरके विराट्-स्वरूप विश्व और इसके निवासी जीवोंकी आवश्यकताओंकी उपेक्षा करना कोई विवेकपूर्ण बात नहीं है। भागवतमें इस सिद्धान्तको सुन्दर रूपसे बताया गया है।

मैं समस्त जीवोंकी आत्मा हूँ और सब जीवोंमें सदैव उपस्थित हूँ। सब जीवोंमें स्थित मुझ परमेश्वरकी उपेक्षा करके मानव मूर्ति-पूजाका आडम्बर करता है। उस मनुष्यसे मैं किंचिन्मात्र भी संतुष्ट नहीं होता जो विभिन्न प्रकारकी सामग्रीसे मेरी पूजा करता है, पर सब जीवोंका अपमान करता है। अतएव हर व्यक्तिको सम्मान, सब प्राणियोंको आदर-सत्कार और बिना भेदभावके सद्भावना देकर करना चाहिये; क्योंकि मैं सब जीवोंकी आत्मा हूँ और मेरा मन्दिर सबके अन्दर है।"

पूजासे सेवा श्रेष्ठतर है

कई सबल कारणोंसे सेवा-पूजासे श्रेष्ठ है। लोकसेवाके काम—चाहे वह स्वार्थवश ही किये गये हों—समाजकी कुछ भलाई

तो करते ही हैं। पर धार्मिक कृत्य, जबतक वह लोकहितके उद्देश्यसे न किये जायँ, समाजके उत्थान या अनुरक्षणमें सहायक नहीं हो सकते। ऐसा बहुत कम देखनेमें आता है कि धार्मिक कार्य जन-साधारणके हितके लिये किये जायँ। सेवा-कार्योंसे ही सत्य-समानता और दया-जैसे गुणोंके अभ्यासका अवसर मिलता है। गीतामें स्पष्टरूपसे कर्मको सांख्यसे ऊँचा माना गया है।

"त्याग (या सांख्य) और कर्मयोग दोनों परम आनन्दको पहुँचाते हैं। परंतु इन दोनोंमें कर्मयोग कर्मत्यागसे श्रेष्ठ है।"

सर्वश्रेष्ठ योगी वह है जो सबके दुःख-सुखको अपने दुःख-सुखके समान जानता है।

गीतामें एक अन्य ध्यान देने योग्य लेकिन कम प्रचलित श्लोक है, जिसमें कहा गया है कि कर्मफलका त्याग ध्यानसे श्रेष्ठतर है और शीघ्र ही शान्ति प्रदान करता है। कर्मत्याग निश्चय ही ध्यान और जपका स्थान नहीं ले सकता, लेकिन साधनाके अन्तिम चरणके रूपमें नितान्त आवश्यक है। धार्मिक कार्य मानवको निर्मल नहीं कर सकते, न उसे शान्ति या सिद्धि दे सकते हैं, जबतक कि उनसे प्राप्त फलका उपयोग समाजके हितके लिये न हो। यदि साधक अपनी उपलब्धिका केवल संग्रह करता है और लोकहितके लिये उसे समर्पित नहीं करता तो वह पापका भागी है। गीताके अनुसार ऐसा व्यक्ति चोर या पापी है, उसका जीवन निरर्थक है (३। १३, १६) और वह न इस लोकमें न परलोकमें ही आनन्द प्राप्त कर सकता है (४। ३१)।

इससे भी बुरा व्यक्ति वह है जो साधनाद्वारा प्राप्त शक्तिको असामाजिक कामोंमें लगाता है—वह पैशाचवृत्ति प्राप्त करता है और अपने पैरोंपर खुद कुल्हाड़ी मारता है (१६ । १८, १९)। हिन्दू पौराणिक कथाओंके राक्षस और पाश्चात्य धर्मके शैतानोंने साधना और तपस्याद्वारा अलौकिक शक्तियाँ अर्जित की थीं, पर इन शक्तियोंका प्रयोग पैशाचिक कार्योंके लिये किया। आजके समाजमें बहुत-से लोग हैं जो धार्मिक प्रवृत्तिके होते हुए भी वास्तवमें स्वार्थी, समाज-विरोधी या दुराचारी हैं; क्योंकि उन्होंने अपनी साधनाको निःस्वार्थ या सात्त्विक नहीं बनाया है।

भागवतमें इस विचारका बड़े सारपूर्ण रूपसे प्रतिपादन किया गया है—"मुझे यज्ञके कृत्यों या कर्मकाण्ड और तपस्याके द्वारा सरलतासे प्राप्त नहीं किया जा सकता; लेकिन मैं उनके सामने प्रकट होता हूँ जो मुझे समस्त जीवोंमें और मुझमें समस्त जीवोंको देखते हैं।"

सेवा और पूजा दोनों कार्य जीवनके अन्तिम क्षणतक बराबर चलते रहने चाहिये।

स्वधर्मका सिद्धान्त

आवश्यक वस्तुओं एवं सेवाओंकी पर्याप्त और नियमित पूर्तिको कायम रखनेके लिये प्रत्येकको कठिन परिश्रम करना आवश्यक है। आध्यात्मिकता समाजमें तभी पनप सकती है जब प्रत्येक व्यक्ति सबके कल्याणके लिये अधिकाधिक योगदान दे।

समाजका प्रत्येक व्यक्ति न तो एक ही काम कर सकता

और न ही करना चाहिये । सम्पूर्ण समाजकी कुल आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये अलग-अलग व्यवसायोमें पर्याप्त संख्यामें लोग कार्यरत हों और अपने-अपने कामको दक्षतासे करें तभी समाज सुचारुरूपसे चल सकेगा । समाजको भगवान्‌का रूप मान कर कुछ लोग अवश्य ही केवल धर्मका पठन-पाठन और ईश्वरकी पूजा करेंगे। पर अधिकांश लोग अपने व्यवसायके लौकिक कार्योंको सम्पन्न करके आराधना करेंगे—चिकित्सक चिकित्सा करके, दर्जी सिलाई करके और किसान खाद्यान्नोंको पैदा करके ।

स्वधर्मके सिद्धान्तके अनुसार व्यक्ति अपने कर्तव्यके प्रति निष्ठावान होकर ईश्वरकी सर्वोच्च आराधना कर सकता है । जीवन-निर्वाहके कार्य मनुष्यका अधिकांश समय और शक्ति ले लेते हैं, पर ये सब काम ईश्वर-प्राप्तिकी साधनाओसे भिन्न नहीं हैं । इनको अलग मानना अविवेकपूर्ण ही नहीं, हानिकारक भी है । धर्मकी व्यवस्थामें प्रत्येक व्यवसायको मान्यता और यथोचित स्थान दिया गया है । सांसारिक व्यवसायोंका तिरस्कार करना और लोगोंको उनसे हटाकर केवल धार्मिक क्रियाओमे लगाना मानवता और परमात्मा दोनोंके प्रति अपराध है । गीताने चेतावनी दी है—"परधर्मो भयावहः ।" हिन्दीमें कहावत है—"जिसका काम उसीको साजे ।" इसी संदर्भमें भागवतमें लिखा है कि एक संन्यासीके लिये वासनाओका शिकार बन जाना और एक गृहस्थके लिये अपने कर्तव्योको छोड़ देना—दोनों ही बातें पाखण्डपूर्ण और अवाञ्छनीय हैं ।

आपसी सहयोगकी आवश्यकता मनुष्यको कदम-कदमपर पड़ती है, स्वार्थ-पूर्ति भी तो परस्पर सहायताके बिना नहीं हो सकती। जहाँ लोग एक दूसरेका ध्यान रखते हैं वहाँ सभीका भला होता है। इसे गीतामें "यज्ञ" की संज्ञा दी गयी है। यह भगवान्‌का अटल नियम है जो सृष्टिके आदिसे ही लागू है। परमात्माको समर्पित किये जानेवाले, यानी उसके प्राणियोंके हित-के कार्य मुक्ति दिलाते हैं। अपने ही हितके काम मनुष्यको माया-मोहमें फँसाते है—यह बात जप, पूजा-पाठ और ध्यान, तपस्यापर भी लागू है। लोककल्याणके कर्मोंमें परमात्मा स्वयं विद्यमान हैं। भगवत्प्राप्ति केवल धार्मिक चेष्टाओंसे ही नहीं, निःस्वार्थ सेवासे भी सम्भाव्य है।

ज्ञानियोंको भी परिश्रमरत होना चाहिये

हमारे देशमें आम धारणा है कि लोक-सेवाके कामोंसे मनुष्य-का ध्यान पूजा-पाठमें अच्छी तरह लगने तो लगता है, पर ये काम उसे मुक्ति नहीं दिला सकते। परहित करना एक घटिया विचारधारा है जिससे भगवत्-दर्शन नहीं हो सकते—भगवत्प्राप्ति केवल बुद्धि या ज्ञानसे ही हो सकती है। जिसने ज्ञान हासिल कर लिया है उसे समाजके लिये काम करनेकी जरूरत नहीं। इस प्रकारकी भ्रान्तियोंके विपरीत गीतामें शिक्षा दी गयी है।

"अतः तुम अपना निर्धारित कर्तव्य करो, क्योंकि निष्क्रियता-से कार्य श्रेष्ठ है। क्रियाहीन होकर तुम अपने शरीर तक की रक्षा नहीं कर सकते।" (३—८)

"जिस प्रकार अविवेकी आसक्तिसे कार्य करता है, उसी प्रकार विवेकी व्यक्तिको सांसारिक व्यवस्थाकी रक्षाके लिये निरासक्त होकर कार्य करना चाहिये।" (३—२५)

"यज्ञ, दान और तपके कार्योंको त्यागना नहीं चाहिये, अपितु इनको हर हालतमें करना चाहिये; क्योंकि ये बुद्धिमानोंको भी पवित्र करते हैं। अतः मेरा सुविचारित एवं सर्वश्रेष्ठ मत है कि यज्ञ, दान व तपके कार्य एवं अन्य सब कर्तव्य आसक्ति तथा फलोंको त्यागकर सम्पन्न किये जाने चाहिये।" (१८ । ५-६)

श्रीकृष्णने अपनेको एक अथक कार्यकर्ता बताया है। यद्यपि उन्हें अपने लिये किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है, फिर भी वे अविरल गतिसे संसारकी भलाई और दूसरोंके लिये उदाहरणस्वरूप कार्य करते रहते हैं। केवल लोक-संग्रहके कार्य करके जनक एवं अन्य मनीषियोंने सिद्धि प्राप्त की थी (३ । २०)।

प्रत्येक विवेकशील व्यक्तिको केवल अपने कर्तव्योंका ही पालन नहीं करना है; बल्कि दूसरोंको भी अपने-अपने कर्तव्योंका पालन करनेके लिये प्रेरणा देनी है।

"ज्ञानी पुरुषको चाहिये कि कर्मोंमें आसक्तिवाले अज्ञानियोंकी कर्मोंमें अश्रद्धा उत्पन्न न करे किंतु स्वयं परमात्माके स्वरूपमें स्थित हुआ और सब कर्मोंको अच्छी प्रकार करता हुआ उनसे भी वैसे ही कराये।" (३ । २६)

ईश्वरकी व्यवस्थाके अन्तर्गत मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्यके लिये काम करना उतना ही जरूरी है जितना भोजन और पानी।

यह एक विज्ञान-सम्मत तथ्य है कि कार्य करनेकी शक्तिके साथ-साथ उस शक्तिका उपयोग करनेकी इच्छा भी रहती है। उस शक्तिके उपयोग न करनेसे रोग एवं दुःख उत्पन्न होते हैं।

बुद्धिमान् लोगोको काम करनेसे छूट नहीं है। उनपर तो औरोंके लिये उदाहरण प्रस्तुत करनेका विशेष दायित्व है ताकि वे जन-साधारणका पथ-प्रदर्शन कर सकें। जो व्यक्ति जितना महान् है, उसकी उतनी ही बड़ी जिम्मेदारी समाज, राष्ट्र और विश्वके कल्याणके लिये है।

कुछ व्यक्ति अपनेको इतना बुद्धिमान् या पूर्ण समझते हैं कि उनको अधिकार और सुविधाएँ ही चाहिये। न तो वे कुछ करते हैं और न कुछ करनेकी जिम्मेदारी समझते हैं। ऐसे लोगोको श्रीकृष्ण भगवान्की चेतावनी याद रखनी चाहिये कि जो समाजके हितके लिये कुछ भी नहीं करते वे चोर और पापी हैं। ऐसे ही मनुष्योके लिये स्वामी विवेकानन्दकी उद्घोषणा है—

"यदि तुम केवल अपने मोक्षके लिये प्रयत्नशील हो तो तुम नरकमें जाओगे। तुम्हें दूसरोंके मोक्षके लिये प्रयास करना चाहिये। ऐसा करनेमें यदि तुम्हें नरक जाना पड़े तो वह अपने मोक्षद्वारा स्वर्ग-प्राप्तिसे अच्छा है। मानव-जीवनका समस्त ध्येय एक शब्दमें बताया जा सकता है—निःस्वार्थता। पूर्णरूपसे निःस्वार्थ होना मोक्ष ही है; क्योंकि भीतरका मनुष्य मर जाता है और केवल परमात्मा ही शेष रहता है।"

अपने कुटुम्बके, समाजके और व्यवसायके सभी काम भगवान्‌के वास्ते हुए [illegible] और [illegible] सेवा-योग समझकर करने चाहिये। हर बातमें ईश्वरकी सेवाका ही उद्देश्य होना चाहिये।

भक्तोंकी श्रेणियाँ

भागवतमें भक्तोंका वर्गीकरण भगवान्‌के प्रति रुख और सेवा-भावनाके आधार किया गया है, ईश्वर-भक्तिकी गहराईके आधारपर नहीं। ऐसा कहा गया है —

"जो प्रत्येक प्राणी या वस्तुमें ईश्वरकी उपस्थिति अनुभव करता है, उसको ही भगवत्स्वरूप देखता है और समस्त वस्तुओंको ईश्वरमें ही स्थित समझता है, वही पूर्ण भक्त है और परमात्माके उपासकोंमें सर्वश्रेष्ठ है। जो अपनेको समस्त प्राणियोंमें और समस्त प्राणियोंको अपनेमें स्थित ईश्वरमें देखता है वह सर्वोच्च भक्त है।"

"जिसके मनमें ईश्वरके प्रति प्रेम एवं आदर है, ईश्वरके आश्रितों और अन्य भक्तोंके प्रति मित्रताका भाव है, अज्ञानीके प्रति दयाभाव है, किंतु जो ईश्वरके शत्रुओं और उसका तिरस्कार करनेवालोंके प्रति उदासीनता रखता है, वह मध्यम श्रेणीका साधक है।"

"जो केवल प्रतिमामें स्थित ईश्वरकी उपासना करता है, लेकिन उसके भक्तों अथवा अन्य प्राणियोंकी सेवा नहीं करता, वह साधारण श्रेणीका भक्त है।"

"जो केवल मन्दिरमें ईश्वरकी पूजा करता है, किंतु अन्य प्रकारकी पूजा करनेवालोंके प्रति सहनशील नहीं है और

सर्वत्र ईश्वरकी सत्ता नहीं देख पाता वह प्रारम्भिक कोटिका भक्त है।"

प्रारम्भिक या मध्य श्रेणीकी उपासना तिरस्कारयोग्य नहीं है; क्योंकि इनकी अपनी उपयोगिता है। किंतु हमें भक्तोंको लगातार सर्वश्रेष्ठ उपासनाकी ओर बढ़ते रहना है। श्रीकृष्णने भागवतके अन्तमें सर्वश्रेष्ठ उपासनाकी इस प्रकार व्याख्या की है—

"मेरे मतानुसार सबसे उत्तम पूजा है समस्त प्राणियोंको मेरे स्वरूप मानना और मन, वचन, कर्मसे उनके प्रति समुचित आचरण करना।"

प्रचलित धर्म अपनेमें ईश्वरको देखनेको कहता है। इस विचारधारासे दूसरे मनुष्योंसे अपनी पूजा या सेवा करानेकी इच्छा जाग्रत् होती है और दूसरोंकी सेवा करनेसे मन हटता है।

प्राचीन ऋषियोंको जरा भी शंका नहीं थी कि धर्मका सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व क्या है—सांख्य या योग, पूजा-पाठ या सदाचरण। मनुके अनुसार "नैतिकता या सदाचार सर्वोच्च धर्म है।......संतोंने सदाचारको तपस्याका आधार माना है। शास्त्रोंमें प्रतिपादित कर्तव्योंका पालन करनेवाला मनुष्य इस लोकमें यश पाकर परलोकमें परम आनन्द पाता है।"

वाल्मीकिरामायणमें कहा गया है "सदाचारसे समृद्धिकी उत्पत्ति है। सदाचारसे आनन्दका उद्भव है। सदाचारके

माध्यमसे व्यक्ति सब कुछ प्राप्त करता है और सदाचार ही विश्वका सार है।"

तुलसीदासजीने कहा है—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीडा सम नहिं अधमाई॥
पर हित बस जिन्हके मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥
निर्नय सकल पुरान बेद कर। कहेउँ तात जानहिं कोबिद नर॥

मानवके विकासके लिये सेवा और पूजा दोनों आवश्यक ; लेकिन दोनोंको एक-दूसरेका नाशक नहीं बल्कि पूरक और सहयोगी होना चाहिये। आध्यात्मिकताका आधार और जीवनका पोषक होनेके कारण इन दोनोंमेंसे सेवा प्रमुख है। यह बात चाहे कुछ विचित्र लगे, पर सच तो यह है कि ईश्वरके निर्बल, अपूर्ण और दीन-रूपों-जैसे पशु-पक्षी, मनुष्य, पर्वत, सरिता और जंगल, घर, पाठशाला और कारखानाकी आराधना स्वर्गमें बैठे सर्वशक्तिमान्, सम्पूर्ण और अविनाशी ईश्वरकी आराधनासे श्रेष्ठ है।

देशभक्ति सर्वोच्च धर्म है

भगवान्के प्रति निष्ठा तभी हो सकती है जब मनुष्यके प्रति स्नेह हो। दूसरे शब्दोंमें देश-प्रेम सर्वोच्च धर्म है। बहुतसे आधुनिक संतोंके मनमें यह भावना प्रचुर मात्रामें रही है। स्वामी रामतीर्थने कहा है—

"जैसे एक शैव शिवकी, वैष्णव विष्णुकी, बौद्ध बुद्धकी, ईसाई ईशाकी, मुसलमान मोहम्मदकी आराधना करता है, वैसे ही

भारतको उसकी प्रत्येक संतानके रूपमें देखो और उसकी आराधना करो।"

"भारत माँ! मैं तुम्हारी हर अभिव्यक्तिकी उपासना करता हूँ। हे मेरी गङ्गाजी, मेरी काली, मेरे इष्टदेव, मेरे शालिग्राम!"

"कोई व्यक्ति कभी भी परमात्मासे एकत्व अनुभव नहीं कर सकता, जबतक उसके शरीरके हर तन्तुमें सम्पूर्ण राष्ट्रसे एकत्वका स्पन्दन न हो।"

"हमारे व्यक्तिगत और स्थानगत धर्मको राष्ट्रधर्मसे उच्च स्थान कभी नहीं दिया जाना चाहिये।"

स्वामी विवेकानन्दने और भी दृढ़तापूर्वक कहा है—

"इतनी तपस्याके बाद मैं जान पाया हूँ कि सर्वोच्च सत्य यह है—वह प्रत्येक प्राणीमें स्थित है। यह सब उसीके असंख्य रूप हैं और किसी ईश्वरकी खोज नहीं करनी है। जो सब प्राणियोंकी सेवा करता है, वही ईश्वरकी सच्ची आराधना कर रहा है।......आगामी पचास वर्षोंके लिये हम अनेकों देवी-देवताओंको अपने मनसे भुला दें। एक ही ईश्वर जागृत है—मानव-जाति हर जगह उसके हाथ-पैर और कान दिखायी देते हैं। अन्य सब देवता सुषुप्तावस्थामें हैं।......प्रमुख आराधना विराट्‌रूपकी है जो हमारे, चारों ओर है।...... पशु और मानव सभी प्राणी हमारे देव हैं। जिनकी आराधना हमें सर्वप्रथम करनी है, वह हमारे देशवासी ही हैं।"

यह खेदकी बात है कि सेवाधर्म हमारे देशमें उपेक्षित रहा है; यही हमारे सब कष्टोकी जड़ है। इसी कारण हम अत्यन्त व्यक्तिवादी और स्वार्थी बन गये हैं। अकर्मण्यता, अनुशासनहीनता और भ्रष्टाचार हमारे राष्ट्रका खून चूस रहे हैं। जगह-जगह उच्चतम स्तरतक शक्ति, समृद्धि और पदके लिये अशोभनीय संघर्ष दिखायी देता है। जबतक स्वार्थकी पूर्ति होती है, लोगोको इस बातकी चिन्ता नहीं है कि उनके देश या संगठनपर क्या बीत रही है।

सेवा-भावकी वृद्धि करनेके लिये कडे परिश्रम, आत्मानुशासन, विनम्रता, कर्तव्यनिष्ठा और मानव-प्रेम आवश्यक हैं। अपनी साधनाको सार्थक करनेके लिये सेवा, नैतिकता और दानको धार्मिक कर्तव्योमें समुचित स्थान दिया जाना चाहिये।

आइये, अपने शास्त्रोके सही अर्थको ग्रहण करें। आइये, इस बातको समझे कि आध्यात्मिकताकी जड़ नैतिकता है, ताकि इस ज्ञानसे हम आध्यात्मिकतारूपी वृक्षके फलोका उपभोग कर सके। आइये, जाति-पाँति और छुआ-छूतकी कुरीतियोंसे ऊपर उठकर हम अपने देशवासियों, विशेषतया कमजोर, निर्धन और दलित लोगोके रूपमें भगवान्‌की आराधना करें।

आज सेवाधर्मकी हमें सबसे ज्यादा जरूरत है। भगवान् श्रीकृष्णकी आराधना और उनकी अनुकम्पा प्राप्त करनेका यही सर्वोत्तम उपाय है। राष्ट्रके उत्थानके लिये यही हम सबको ईश्वरका आह्वान है।



बहुमुखी सतत उपासना

हर जगह धर्ममें आराधनाको बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है। वास्तवमें धर्मकी सामान्य परिभाषा पूजा ही है जिसमें प्रार्थना, ध्यान, जप इत्यादि सभी शामिल हैं।

आराधनाकी महिमाका बखान धार्मिक नेताओं और आचार्योंने ही नहीं, बल्कि दूसरे महापुरुषोंने भी किया है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक तथा नोबेल पुरस्कारविजेता अलैक्सिस केरलने लिखा है—"प्रार्थना उन सब शक्तियोंमें प्रबलतम है, जिन्हें मनुष्य पैदा कर सकता है। जब हम प्रार्थना करते हैं तो अपनेको उस असीम शक्तिसे जोड़ लेते हैं जो संसार-चक्रको घुमाती रहती है। प्रार्थना करते-करते ही

हमारी मानवीय कमियाँ दूर होने लगती हैं और हम जब उठते हैं तो कुछ शक्ति प्राप्त करके, कुछ सुधरकर ही उठते हैं। हम जब भी ईश्वरको अपनी भावभीनी प्रार्थनासे सम्बोधित करते हैं तो हम शरीर और आत्मा दोनोको बेहतर बनाते हैं। ऐसा नहीं हो सकता कि कोई स्त्री या पुरुष क्षणभर भी प्रार्थना करें और उसे कोई लाभ न हो।"

इसी प्रकार महात्मा गाँधीका कथन है—"प्रार्थना ही धर्मका प्राण और सार है। अतः प्रार्थनाहीको मानव-जीवनका केन्द्र होना चाहिये। प्रार्थना ही हमारे जीवनके कार्योंमें व्यवस्था, शान्ति और आराम लानेका एकमात्र साधन है। इस मार्मिक चीजको सँभाल लेनेसे बाकी दूसरी चीजें खुद सँभल जायँगी।

आराधनाकी उपयोगिताके बारेमें साक्षी इतनी अधिक और प्रबल है कि हम उसे बिना संकोचके स्वीकार कर सकते हैं; पर हमें इतना अवश्य याद रखना चाहिये कि पूजाके अच्छे परिणामोंको हमारे बाकी समयके सांसारिक काम यदि बढ़ा सकते हैं तो घटा और बिल्कुल नष्ट भी कर सकते हैं। मनुष्यका बहुत-सा समय और ध्यान तो इन्हीं कामोंमें लगता है। इसलिये उसके आध्यात्मिक विकासपर इन कार्योंका बहुत बड़ा, बल्कि निर्णायक प्रभाव होता है।'

नित्ययोग या सततयोग

गीतामे बारी-बारीसे सभी प्रमुख योगोकी प्रशंसा की गयी है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति यह दावा करता है कि गीताने उसीके

मनपसंद योगको प्रधानता दी है। परन्तु यह दावा सच नहीं है, क्योंकि गीतामें श्रीकृष्णने साफ-साफ कहा है कि कोई व्यक्ति चाहे जैसे भी मेरा भजन करता है, मैं भी उसी ढंगसे उसे भजता हूँ। हर ओरसे मनुष्य जिस मार्गको भी अपनाता है; वह मार्ग मेरा ही है। यह बात समझमें भी आती है, क्योंकि भगवान्‌में संकुचितता, तानाशाही या साम्प्रदायिकताकी तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। वह अवश्य ही सार्वभौमिक तथा निष्पक्ष है। वह अवश्य ही मनुष्यको कुछ-न-कुछ स्वतन्त्रता इस बातकी देता है कि वह अपना रास्ता अपनी रुचि, योग्यता तथा स्थितिके अनुसार खुद चुने। वह किसी विशेष योग, पूजा विधि या सम्प्रदायका पक्ष नहीं ले सकता, न वह जन-साधारण-पर असम्भव शर्तें लाद सकता है। वह यह नहीं कह सकता कि घोड़े गाय बन जायँ या चमेली गुलाब बन जाय। इसलिये वह यह भी नहीं कह सकता कि मजदूर या कारीगर लोगोंका कल्याण ज्ञानी या सन्यासी बने बिना हो ही नहीं सकता।

गीताको ध्यानपूर्वक पढनेसे पता चलता है कि गीताका प्रिय योग नित्य या सततयोग है, जिसपर उसने बार-बार जोर दिया है और जिसका अर्थ है—परमात्मासे, उसके विविध पहलुओंसे अपने मन-वचन और कर्मद्वारा हर समय सम्पर्क बनाये रखना। उदाहरणके लिये गीतामें श्रीकृष्णने कहा है—

इसलिये हर समय मुझे याद कर और युद्ध कर (८ । ७)।

इसलिये हर समय योगमें स्थित रह (८ । २७)।

जो अनन्यभावसे नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करता है, जो सदा अपना मन मुझमें लगाये रहता है, वह योगी सहज ही मुझे प्राप्त कर लेता है। (८। १४)

सततयोगके सिद्धान्तको मान लेनेके बाद यह झगड़ा ही समाप्त हो जाता है कि कर्मयोग श्रेष्ठ है तथा ज्ञान, ध्यान तथा भक्तियोग। सारी साधनाका अन्तिम फल भगवान्‌से निरन्तर पक्का और पूरी शक्तिसे योग स्थापित करना है। इस लक्ष्यको प्राप्त करनेके लिये किस योग या किन विशेष योगोंका आधार लिया गया है, इस बातसे जरा भी अन्तर नहीं पड़ता। नित्ययोगका द्वार हर व्यक्तिके लिये खुला हुआ है, चाहे उसका रोजगार, पूजा-प्रणाली या समाजमें स्थान कुछ भी हो।

केवल सततयोगद्वारा ही मनुष्य भगवान्‌से पूर्ण योग स्थापित कर सकता है, जीवनको ऊपर उठा सकता है और अपनेको परमात्माका प्रतिबिम्ब बना सकता है। यदि भगवान्‌से ऐकात्म्य केवल पूजाके थोड़ेसे क्षणोंमें होता है और बादमें टूटा रहता है, यदि केवल मनको परमात्मासे जोड़ा जाता है, पर बुद्धि, हृदय और हाथ उसके आदेशोंके विपरीत काम करते रहते हैं, यदि अदृश्य, सुदूर, स्वर्गमें रहनेवाले और अगम ईश्वरसे तो योग किया जाता है, पर हमारे चारों ओर रहनेवाले उसके जीते-जागते स्वरूपोंको सताया जाता है, ठुकराया जाता है या उनकी अवहेलना की जाती है, तो उसका योग बिल्कुल अधूरा और क्षणिक होगा और यह बताना बहुत कठिन होगा कि

ऐसा व्यक्ति अपनी पूजाके फलस्वरूप आध्यात्मिक उन्नति करेगा या अपने क्रिया-कलाप तथा निष्क्रियताके कारण पतनकी ओर जायेगा।

सतत और सम्पूर्ण योग तभी सम्भव हो सकता है, जब जीवनकी समस्त क्रियाओंद्वारा भगवान्‌से सम्बन्ध स्थापित किया जाय। इसके लिये हमें अपनी विचारधारामें आमूल परिवर्तन करना होगा। भगवत्प्राप्तिकी साधनाको हमें विशाल और उदार बनाना होगा, जिससे उसमें पूजा, प्रार्थना, ध्यान, जप और भजन ही नहीं बल्कि जीवनोपयोगी सारे सांसारिक कार्य भी शामिल हो जायँ। इस महान् विचारका संकेत सारी गीतामें मिलता है, जैसे—

> अतः सदा अपने कर्तव्योंको कुशलता और अनासक्त होकर करते रहो। अपने कर्मको अनासक्तभावसे करके मनुष्य परमात्माको प्राप्त कर लेता है (३ । १९)
>
> कर्म करके ही जनक आदि मनीषियोंने संसिद्धिको प्राप्त किया। (३ । २०) तुम जो कुछ करो, जो कुछ खाओ, जो कुछ यज्ञमें डालो, जो कुछ दान दो, जो कुछ भी तपस्या करो, वह सब मुझे अर्पण करके करो। इस प्रकार वैराग्य योगमें आसीन होकर कर्मके शुभाशुभ फलोंके बन्धनसे मुक्त होकर तुम मुझे प्राप्त कर लोगे। (९ । २६, २८)
>
> अपने-अपने काममें अनुरक्त और तल्लीन होकर मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त कर लेता है। जिससे सब भूतोंका प्रादुर्भाव हुआ है, जो सारे संसारमें फैला हुआ है, उस (परमात्मा) को

अपने कर्म (कर्तव्य) द्वारा उपासना करके कुछ मनुष्य पूर्णताको प्राप्त कर लेता है। (१८। ४५, ४६)

गीताके अनुसार यज्ञके प्रत्येक कार्यमे ईश्वर स्वयं उपस्थित है, अर्थात् प्रत्येक ऐसे काममें जो समाजके लिये उपयोगी है अथवा संसारकी व्यवस्था बनाये रखनेमें सहायक है (४। २४)। सच तो यह है कि ईश्वर ही ऐसे सब कार्योंका महाभोक्ता है, (५। २९, ९। २४) और अन्तमें उन सबका लाभ भी उसीको पहुँचता है। इससे यह बिलकुल स्पष्ट है कि जन-सेवाके सारे काम पूजा, जप और ध्यानके ही समान परमात्मासे योग कराते हैं।

ईश्वरके विभिन्न पक्ष

परमेश्वर निःसदेह आत्मा है और इसका यह पक्ष मनुष्यकी इन्द्रियो और बुद्धिकी पहुँचसे परे है। अतः आत्माके रूपमें भगवान्‌की आराधना, प्रार्थना, जप, ध्यान और पूजा करके ही की जा सकती है। यह सब पूजाके परम्परागत तरीके हैं और जन-साधारणकी यह धारणा बन गयी है कि केवल इन्हींके जरियेसे मनुष्य भगवान्‌की पूजा कर सकता है। सच्ची बात तो यह है कि यह साधनाएँ मनुष्यके लिये आवश्यक तो हैं पर काफी नहीं; क्योकि परमेश्वरके दूसरे महत्त्वपूर्ण पक्ष भी हैं, जो मानव-जीवनका पालन, पोषण और नियन्त्रण करते है और जिनके लिये दूसरे ही प्रकारकी साधना या आराधनाकी आवश्यकता हैं।

जिस परमेश्वरने इस ससारकी सृष्टि की है, वह अवश्य ही इसकी भलाई और उन्नतिमें बड़ी रुचि रखता है। वह सभी प्राणियोंसे

माता-पिता और मित्रकी भाँति प्यार करता है। इसलिये वह स्वभावतः उन लोगोंको पसंद करता है, जो अन्य प्राणियोंसे प्रेम करते हैं, जो उनकी सेवा करते हैं, जो संसारको सुन्दर और सुखमय बनाते हैं। परमपिता परमेश्वरको अपने लिये कुछ नहीं चाहिये। इसलिये उसे प्रसन्न करनेका एक सहज उपाय यह है—जिन्हें वह प्यार करता है, उनकी सेवा की जाय। दूसरी ओर यह भी अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि वह इतना किसी दूसरेसे नाराज नहीं होता, जितना उन लोगोंसे होता है जो दूसरेका अहित, अनादर या उपेक्षा करते हैं।

भगवान् हमारा माता-पिता तो है ही, संसारका शासक भी है। इस नाते वह दुनियामें कानूनकी व्यवस्था बनाये रखता है और धर्मका संरक्षक है। सृष्टिके सुचाररूपसे चलनेको वह इतना महत्त्व देता है कि यदि आवश्यक होता है तो सज्जनोंकी रक्षा, दुर्जनोंके नाश और धर्मकी पुनः संस्थापनाके लिये स्वयं पृथ्वीपर अवतार लेता है। ईश्वरके साम्राज्यमें हमें अच्छे नागरिक बनकर रहना होगा। उसके विधि-विधानकी यदि हम अवहेलना करेंगे तो अवश्य ही हमें दण्ड मिलेगा।

सृष्टिके संचालनके लिये ईश्वरने हर व्यक्तिको कुछ-न-कुछ काम सुपुर्द कर रखा है। वह इस बातका बहुत ख्याल रखता है कि हर कोई अपने-अपने कामको कुशलता और ईमानदारीसे सम्पादन करें। जो अपने कार्यमें ढिलाई, बेपरवाही या टालमटोल करते हैं

प्रकृतिके नियम बिना किसी रियायतके उनकी खबर लेते हैं। हमारे देशमे बहुत-से लोगोकी यह धारणा बन गयी है कि भगवान्‌ने मनुष्य-को केवल धार्मिक कर्तव्य ही सुपुर्द किये है। जैसा ऊपर समझाया गया है। हमारे शास्त्रोने इस बातको स्पष्ट कर दिया है कि मनुष्यके सारे कर्तव्य भगवान्‌के दिये हुए हैं, भगवान्‌की पूजा है और भगवत्-प्राप्तिके साधन हैं। जीवित मनुष्य ही भगवान्‌का भजन कर सकता है। इसलिये जीवनको बनाये रखना प्रत्येक व्यक्तिका परम कर्तव्य है।

अधिकांश लोग परमेश्वरको सगुण, साकार अर्थात् एक व्यक्ति-विशेषके रूपमें पूजना पसंद करते हैं जो उनकी रक्षा करता है और उनकी प्रार्थनाओको सुनता है। किंतु सच तो यह है कि सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् होनेके कारण परमेश्वरको न तो स्वयं कोई काम करनेकी और न कोई आज्ञा देनेकी ही आवश्यकता है। उसकी असीम शक्ति, जिसे हम प्रकृति कहते हैं, उसीके बनाये हुए अटल नियमोंके अनुसार इस ब्रह्माण्डका निर्माण और संचालन करती है और इस कार्यमें परमेश्वर न तो हर समय आदेश देता रहता है और न निरीक्षण ही करता रहता है।

गीतामें कहा गया है—'यद्यपि मैं इस संसारका कर्ता हूँ तो भी मुझे अकर्ता जान (४। १३)। मेरे निरीक्षणमें प्रकृति सारी चराचर-सृष्टिकी रचना करती है। इसी कारणसे संसारचक्र घूमता रहता है। (९। १०) वह सचमुच देखता है जो यह देखता

है कि प्रकृति ही सारा काम करती है और पुरुष (परमात्मा) कुछ भी नहीं करता" । (१३ । २९) ।

यह बड़ा अजीब बात है कि चेतन्य पुरुष तो स्वयं कुछ नहीं करता और उसकी ओरसे सारा काम प्रकृति करता है जो कि जड़ अर्थात निर्जीव और भावनाशून्य है । जो शक्ति मनुष्यको दंड अथवा पुरस्कार देती है, वह पुरुष नहीं वरन् जड़ प्रकृति ही है । प्रभु या परमात्मा यह निर्णय नहीं करता कि किसने क्या काम किया और किसको क्या फल मिलना चाहिये । यह सब काम प्रकृति करती है (५ । १४) वास्तवमे तो श्रीकृष्णने यह विश्वास दिलाया है कि वे सबमे समानरूपसे विद्यमान हैं और उन्हें किसीसे न तो राग है न द्वेष (९ । २९) ।

प्रकृति ईश्वरहीकी सत्ता-विधि-प्रणाली है । उसके नियम सनातन, अटल और सार्वभौम हैं । वे स्वचालित हैं । भावना-विहीन होनेके कारण प्रकृतिपर प्रार्थना, विनती या भेंट चढानेका कोई असर नहीं पड़ता । प्रकृतिको वशमे करनेका एक यही तरीका है कि उसके नियमोका पता लगाया जाय और उनका पालन किया जाय । जो उसके नियमोको जान या अनजानमें उल्लङ्घन करते हैं, वे समय आनेपर आप-से-आप और विना किसी चेतावनीके अवश्य ही सजा पाते हैं ।

मानव-जीवन प्रकृतिके साम्राज्यमें आता है और इसलिये प्रकृतिके नियमोंसे पूरी तरह बँधा रहता है । इन नियमोकी मर्यादाके

अंदर और उसके अनुसार काम करके मनुष्य सब कुछ प्राप्त कर सकता है और इन नियमोंसे छूट पानेका प्रयास करना व्यर्थ है। प्रार्थना, जप, ध्यान आदि आत्माको बल प्रदान करते है, पर उनके साथ-ही-साथ हर वाञ्छनीय पदार्थको पानेके जो आजमाये हुए प्राकृतिक तरीके हैं, उन्हे भी अपनाना चाहिये। चैतन्यपुरुष और निर्जीव प्रकृतिके बीच कामके बँटवारेको अच्छी तरह समझ लेना चाहिये और उनमेंसे प्रत्येकके अधिकारका उचित ढंगसे सम्मान करना चाहिये। प्रकृतिके नियमोको समुचित महत्ता देनेसे परम पुरुषकी सत्ता या आराधनाका माहात्म्य कदापि नहीं घटता; क्योंकि प्रकृति भी तो आखिर भगवान्‌का ही एक रूप, पहलू या सेवक है, उससे अलग या स्वतन्त्र कोई चीज तो नहीं।

सर्वत्र धर्मपर यह धारणा छायी हुई है कि परम्परागत ढंगसे ईश्वरकी पूजा करनेमात्रसे ही ईश्वरके प्रति मनुष्यके सारे कर्तव्य पूरे हो जाते हैं एवं मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है। यथार्थमें यह एक मतिभ्रम है और यही मनुष्यके सारे पापो, कष्टो, गरीबी, एवं धर्मके नामपर युद्ध तथा हत्याकांडोंकी जड़ है। क्योंकि जब यह मान लिया कि पूजा, जप और ध्यानहीसे सब कुछ मिल जाता है तो नेकी, सदाचार, सचाई, ईमानदारी, कर्तव्यनिष्ठा और परोपकारकी आवश्यकता ही क्या रह गयी। ऐसा धर्म-अधर्म और अनीतिका पोषक बन जाता है और यही कारण है कि जैसे-जैसे धार्मिक गतिविधियाँ बढ़ती जाती है उससे भी अधिक तीव्रगतिसे समाजमें भ्रष्टाचार और अत्याचार बढ़ता जाता है।

सर्वोच्च देव

गीतामें कई सुन्दर तुलनाएँ की गयी हैं। उनमें सबसे मार्मिक वह विवरण है, जिसमें सर्वोच्च देव और अन्य देवताओं (७।२०-२३, ९।२५), अव्यक्त और परम अव्यक्त (८।१८-२२) तथा पुरुष और पुरुषोत्तम (१५।१६-१८) की तुलना की गयी है और जिसमें श्रीकृष्णको सर्वश्रेष्ठ देव बतलाया है और उनके विश्वरूपका दर्शन कराया है।

गीतामें लिखा है "जिसकी बुद्धि वासनाओंके वशीभूत हैं, वे अन्य देवताओंकी उपासना करते हैं। वे अपनी प्रकृतिके अनुसार अनेक बाहरी साधनाओंका आश्रय लेते हैं (६।२०); इन तुच्छ-बुद्धियोंको सीमित ही फल प्राप्त होता है। देवताओंके उपासक देवताओंको प्राप्त करते हैं, परंतु मेरे उपासक मेरे पास पहुँचते है।" (६।२३)

जब उच्चतम देवकी उपासनासे ही मोक्ष-प्राप्ति हो सकती है, तब उनमें तथा अन्य देवताओंमें और उनकी उपासना-विधियोंमें जो अन्तर है, उसे स्पष्टरूपसे समझ लेना अति आवश्यक हो जाता है।

अपने धर्मके सस्थापक तथा अन्य नेताओंकी प्रशंसा करने तथा दूसरोंकी बुराई करनेका तो धार्मिक क्षेत्रोंमें रिवाज ही है। किंतु श्रीकृष्णका यह तरीका न था। उन्होने शालीनताका उपदेश दिया (१६।३) और उसपर अमल भी किया।

गीतोपदेशके समय वे अर्जुनके रथके सारथी थे। यह कार्य उनकी आयु और मर्यादाके बिल्कुल अनुरूप न था।

*

अनेक दूसरे महत्त्वपूर्ण अवसरोंपर भी उन्होंने स्वेच्छासे छोटे दायित्व सँभाले । वास्तवमे गीतामें भी उन्होंने विष्णु, इन्द्र, शंकर, कुबेर, अग्नि, वरुण, यम आदि अनेक देवताओसे अपनेको अभिन्न कहा है (१० । २०–२४) । इससे स्पष्ट है कि सर्वोच्च देव और उसकी आराधनाका गूढ अर्थ कुछ और ही है, जिसकी खोज हमे यत्नपूर्वक करनी चाहिये ।

परम देव निश्चय ही अन्य देवताओसे पद और अधिकारमें बढ़कर हैं । उनका पारस्परिक सम्बन्ध वैसा ही है जैसा पूर्णका अपने खण्डोंसे अथवा प्रबन्ध-सञ्चालकका अपने अधीनस्थ विभागाध्यक्षोंसे होता है । अल्प देवताओके अधिकार और क्षेत्र सीमित हैं। चूँकि वे विशेष गुणों या शक्तियोंके स्वामी हैं, उनकी आराधना उन्हीं चीजोंके लिये की जाती है और वही चीजें उनसे मिल सकती हैं । इसलिये उनकी उपासना एक तो सकाम, दूसरे अल्प फल देनेवाली होती है । परमशान्ति अथवा समग्र पूर्णताको केवल धन या विद्याके देवताकी पूजासे नहीं प्राप्त किया जा सकता ।

स्वयं गीताने सर्वोच्च देवके विशिष्ट लक्षणोंको बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है । उदाहरणार्थ वह कहती है—

यह सभी कुछ वासुदेव है । (७ । १९)

मेरे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है । (७ । ७)

मै प्राणीमात्रका शाश्वत आदितत्त्व हूँ । (७ । १०)

मै समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्थित आत्मा हूँ । मै ही सब प्राणियोंका आदि, मध्य और अन्त हूँ । (१० । २०)

जीवमात्रके शरीरमें रहनेवाली अग्नि बनकर और प्राणवायुसे संयुक्त होकर मैं ही चार प्रकारके आहार पचाता हूं। (१५।१४)

अर्जुनने श्रीकृष्णके विश्वरूपके वर्णनमें इन्हीं बातोंकी पुष्टि की है—

प्रभो! मैं आपके शरीरमें सभी देवताओं और विभिन्न प्राणियोंके समूहको देखता हूँ। (११।१५)

आप ही अनन्त स्वरूपोंमें सारे ब्रह्माण्डोंमें व्याप्त हैं। (११।३८)

आप सर्वत्र व्याप्त हैं, इसलिये आप ही सब कुछ हैं। (११।४०)

सर्वोच्च देव ही उच्चतम अव्यक्त हैं। जो अव्यक्तसे इसलिये श्रेष्ठ हैं कि उनमें न केवल अव्यक्त ब्रह्म किंतु समस्त व्यक्त या प्रकट ब्रह्माण्डका भी समावेश है। (८।१८,२०) इसी तरह पुरुषोत्तममें पुरुष और प्रकृति दोनों निहित हैं। (१५।१६-१८) सर्वोच्च देव वही हैं, जिसमें समस्त प्राणियोंका निवास है और जो सर्वत्र व्याप्त है (८।२२)। वह केवल आत्मा ही नहीं वरन् जड़-पदार्थ, विधि-विधान, ताप, प्रकाश, विद्युत्, प्राण और चेतना भी है। सब देवताओंमें एकमात्र उसीका सम्पूर्ण चराचर जगत्से पूर्ण तादात्म्य है। प्राणी-मात्रसे एक होकर वही उनकी आकाङ्क्षाओं, भावनाओं, सुख-दुःखका भागीदार बनता है।

मनुष्य जो कुछ भी अपने सहजीवियोंके साथ करता है वह स्वयं परमदेवके साथ ही करता है। इसलिये सर्वोच्चकी उपासना केवल कर्मकाण्ड, जप, ध्यान और प्रार्थनातक ही सीमित नहीं रह सकती। उसमें लोक-हितमें गहरी सुरुचि, सब प्राणियोंके प्रति

श्रद्धा और उनकी सप्रेम तथा निःस्वार्थ सेवा भी अनिवार्यरूपसे शामिल की जानी चाहिये । पूजा और सेवाके योगसे ही परमपुरुषकी सच्ची उपासना बनती है और इसीसे मनुष्यकी आत्मोन्नति सुनिश्चित हो सकती है ।

सकाम भावसे की हुई सारी साधना छोटे देवताओंकी उपासना है । केवल निष्कामभावसे अर्थात् परार्थ की हुई उपासना और कर्म ही सर्वोच्च देवकी आराधना है । गीतामे श्रीकृष्णकी पूजा-अर्चनाकी बार-बार प्रेरणा इसी अर्थमे की गयी । प्राणीमात्रकी भलाईमे आनन्दित होना इस उपासनाका विशेष लक्षण है । (५।२५,१२।४)इसीलिये श्रीकृष्णने बताया किसब योगियोमे श्रेष्ठ वह है जो दूसरोंके दुःख-सुखको अपना मानता है । (६।३२) सदाचारी भक्तोंमे सर्वोत्तम और प्रभुका परम प्रिय वह ज्ञानी है, जो सर्वत्र ज्ञानके ध्येय अथवा परमात्माहीको देखता है (७। १७, १८, १३ । ११) । यह अनुभूति कि सब कुछ वासुदेव ही है, विरलोको और वह भी अनेक जन्मोके बाद ही प्राप्त होती है । (७।१९)

उपासनाकी सर्वश्रेष्ठ पद्धति

प्रार्थना, जप, ध्यान, स्तुति तथा मूर्ति एव अन्य प्रकारके संकेतोका पूजन ईश्वरोपासनाकी जानी-मानी पद्धतियाँ है । इनमेसे एक या कईको हम अपनी रुचि और सुविधाके अनुसार अपना सकते है । यहाँपर हम दो अन्य विधियोंकी चर्चा करेंगे । जिसकी शिक्षा हमारे धर्म-ग्रन्थोंमे दी गयी है और जो सतत या पूर्ण योगके लिये बड़ी उपयोगी है ।

एक प्रभु-स्मरण है। हर समय और जितनी बार हो सके उसको याद करो। अतीतकी कृपाओं और वर्तमानके प्रत्येक नये अनुग्रहके लिये उसको धन्यवाद दो। अपनी समस्याओंके हल करनेमें उससे सहायता और मार्ग-दर्शनकी याचना करो, कठिनाइयोंमें उससे धीरज और प्रोत्साहन प्राप्त करो। प्रलोभनोंसे बचनेके लिये शक्ति और भूलचूकके लिये उससे क्षमा माँगो। गीतामें कहा है—"हर समय मेरा स्मरण करो और संघर्ष करते रहो।"

दूसरी विधि यह है कि मन-चक्षुसे प्रत्येक स्थल और व्यक्तिमें प्रभु-दर्शनका अभ्यास करो। अपने सम्पर्कमें आनेवाले प्रत्येक व्यक्तिमें उसको देखनेकी चेष्टा करो। ऐसा करना मनको प्रभुमें केन्द्रित करनेका उत्तम साधन है, जिसपर गीताने बहुत जोर दिया है—

"जो मुझको सर्वत्र देखता है और सबको मेरे भीतर देखता है, मैं उसकी और वह मेरी दृष्टिसे कभी ओझल नहीं होता। (६ । ३०) जो एकत्वकी भावना करके सब प्राणियोंमें विराजमान मुझ (परमेश्वर) को पूजता है, ऐसा योगी कैसे भी रहे, मुझमें ही वास करता है। (६ । ३१) वास्तवमें वही देखता है जो सभी नश्वर प्राणियोंमें अविनाशी महा-प्रभुको देखता है। (१३ । २७) सबमें समानरूपसे प्रभुका वास देखकर वह आत्माका आत्माद्वारा हनन नहीं करता, जिससे वह परम गतिको प्राप्त कर लेता है। (१३ । २८) यह तो स्पष्ट ही है कि प्राणीमात्रमें प्रभु-दर्शन करना वास्तवमें

सभी योगोंका योग है । इसमें ज्ञान, ध्यान, शक्ति और कर्म सभी समाविष्ट हो जाते हैं । इसमे मन, बुद्धि, दृष्टि, विचार, भावना, इच्छा, शक्ति और हाथ सभी पवित्र हो जाते हैं । यही नित्ययोग, सतत-योग या पूर्णयोग है ।"

आदिशंकराचार्यके अनुसार ध्यानका वास्तविक उद्देश्य भी यही है । अपनी पुस्तक अपरोक्षानुभूतिमें वे कहते हैं, "सामान्य दृष्टिको ज्ञानदृष्टिमे बदलकर विश्वको ब्रह्मरूपमें देखना चाहिये । यही सर्वोत्कृष्ट दृष्टि है, वह नहीं जो नाककी नोकपर केन्द्रित की जाती है । मन भटककर जहाँ भी जाय, वहीं ब्रह्मकी अनुभूति करनेमे मनको स्थिर करना सर्वोच्च कोटिकी धारणा है ।"

भागवतके अन्तमे उद्धवने श्रीकृष्णको बताया कि जन-साधारणके लिये राजयोग अत्यन्त कठिन है । उसमें हताश ही होना पड़ेगा । इसलिये उन्होने परमात्मातक पहुँचनेका सरल, सुगम मार्ग पूछा । श्रीकृष्णने उत्तर दिया कि "भगवत्-प्राप्तिका सरल और सहज उपाय प्रभुके लिये सारे काम करना और काम करते समय प्रभुको याद करते रहना चाहिये ।" उन्होंने अपनी समग्र शिक्षाका सारांश इन स्मरणीय शब्दोंमें बताया ।

सभी प्राणियोमे मन, वचन और कर्मद्वारा (परमात्माको) ही देखना और उसीके अनुसार आचरण करना मेरे विचारसे सर्वोत्तम उपासनाकी विधि है ।



उत्कृष्टताका दिव्य सन्देश

हमारे शास्त्रोकी एक बहुमूल्य शिक्षा, जिसे हम भूल गये हैं, यह है कि जीवनको तेजस्वी और कीर्तिमान बनाया जाय । वेदोके ऋषि बारंबार महानता-प्राप्तिके लिये प्रार्थना करते थे । "ईश्वर मुझे तेजस्वी बना", "तेरे बनाये हुए सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, आकाश, समुद्र और स्वर्ग सदैव महानता-प्राप्तिमे मेरे सहायक सिद्ध हों ।"

गीतामें तो विभूतियोग नामक एक पूरा अध्याय ही है जिसमें श्रीकृष्णने हर क्षेत्रके सर्वोत्तमभूतकी प्रशंसा करनेके लिये अपनेको उससे एकरूप बताया है । "मैं अचल वस्तुओंमें हिमालय, नदियोंमे गङ्गा, वृक्षोमें कल्पवृक्ष, गायोंमें कामधेनु, ऋषियोमे व्यास, गायकोंमे चित्ररथ, सेनापतियोंमें स्कन्द, शासकोंमें यम, मुनियोमें नारद, योद्धाओंमे राम और मनुष्योमें राजा हूँ । मै महान्‌की महानता, विजेताकी विजय एवं सुशीलका शील हूँ । मै सभी प्राणियोंमे जीवन तथा तपस्वियोकी तपस्या हूँ ।"

विभूतियोगका मूल सिद्धान्त श्रीकृष्णने इन शब्दोमें बताया है—"जिस किसी प्राणीमे भी तेजस्विता, अच्छाई, वैभव, शक्ति एवं शौर्य दिखायी दे, उसे मेरी ही अनन्त विभूतिका छोटा-सा अंश समझना चाहिये ।"

प्रत्येक वर्गमें सर्वोत्तम व्यक्तिको आदर देकर श्रीकृष्णने मानव-मात्रको उत्कृष्टताका दिव्य पाठ पढ़ाया है। गीता सभी साधकोंको स्वर्णिम कार्य और यशोपार्जन करनेकी प्रेरणा देती है। इस विषयमें कोई शंका न रह जाय इसलिये श्रीकृष्णने अर्जुनको अपना विराट् स्वरूप दिखाते हुए साफ-साफ कहा—"अतः यशस्वी बनो, अपने शत्रुओंपर विजय प्राप्त करो और समृद्धिशाली राज्यका उपभोग करो।"

आधुनिक विचारकोंने भी अनुपम योग्यताकी प्राप्तिपर बहुत बल दिया है। इमर्सनका कहना है—'यदि कोई व्यक्ति अपने पड़ोसीकी अपेक्षा अधिक सुन्दर पुस्तक लिख सकता है, अधिक प्रभावशाली प्रवचन कर सकता है या अधिक बढ़िया चूहेदानी बना सकता है तो संसारके लोग पैदल चलकर उसके दरवाजेतक जानेके लिये रास्ता बना देंगे।"

इसी प्रकार स्वेटमार्डनने कहा है—"किसी कार्यको विशेष निपुणताके साथ सम्पन्न करनेमें एक अपूर्व सौन्दर्य है। ऐसा जान पड़ता है कि मनुष्यकी रचना ही विशिष्ट योग्यताकी प्राप्तिके लिये हुई है।"

मनोवैज्ञानिक डॉ० लिंक्स लिखते हैं—"एक प्रभावशाली व्यक्तिके लिये कई प्रकारकी योग्यताके साथ कुछ क्षेत्रोंमें अपेक्षाकृत और एक क्षेत्रमें स्पष्टरूपसे श्रेष्ठता भी आवश्यक है। मुख्य श्रेष्ठता रोजगारके क्षेत्रमें और दूसरी श्रेष्ठताएँ खेल-कूद, किसी मनपसंद काम या सामाजिक कलाओंमे हो सकती है। श्रेष्ठता प्राप्त करनेकी आदत ही भावी सफलताके लिये तैयारी है।"

कर्मयोग और विभूतियोग

गीताके अनुसार कार्यमें कुशलता योगकी एक परिभाषा है और श्रीकृष्णको वही भक्त प्रिय है जो दक्ष है। कार्यकुशलताके दो पक्ष हैं—आध्यात्मिक और लौकिक।

आध्यात्मिक निपुणताका सार-तत्त्व निःस्वार्थता अथवा परार्थ है। कामको भगवान्‌की पूजा या भेंट समझकर या सब प्राणियोंकी भलाईके लिये करना, अपने हितोंकी अपेक्षा उनके हितोंका अधिक ख्याल रखना जिनको हमारे कामसे लाभ पहुँचना है। हड़तालें, नियमानुसार या धीमे काम करना, कम-से-कम काम और अधिक-से-अधिक वेतनकी निरन्तर माँग उतनी ही अनैतिक एवं अधार्मिक है जितनी कि ग्राहक या श्रमिकवर्गका शोषण करके धनवान् बननेकी आदत।

लौकिक दृष्टिसे भी काम सतोषजनक ढंगसे किया जाना चाहिये। सबसे पहली आवश्यकता तो यह है कि काम साफ-सुथरा और शुद्ध हो और उसमें त्रुटियाँ न हों। दूसरे, शुद्धताके साथ-साथ काम तेजीसे भी किया जाना चाहिये। सामान्यतः जो कार्यकुशल है वह कामको तेजीसे करता है और काममें सुस्त होना अयोग्यताका ही द्योतक है।

दक्षताका एक लक्षण यह भी है कि श्रम, धन एवं वस्तुओंके उपयोगमें मितव्ययता बरती जाय। एक सुयोग्य पुरुष बिना थकान महसूस किये एवं असंतक काम कर सकता है। वह अपने समय, बल तथा अन्य साधनोंका पूरा-पूरा लाभ उठाता है। वह आसानीसे

दूसरोंका सहयोग प्राप्त कर लेता है और इस प्रकार अपनी शक्तियोंको बढ़ा लेता है।

कुशलताका सर्वोच्च अंश मौलिकता, अन्वेषण और आविष्कार है। जो सचमुच निपुण है वह लकीरका फकीर नहीं होता और न कामको पुराने ढर्रेपर ही चलाता रहता है। अपितु, वह काम करनेके नित नये, अच्छे और सरल तरीके खोजता है, नये पदार्थोंका निर्माण करता है और हमेशा उन्नति तथा सुधारके काममें लगा रहता है। वह दस वर्ष, बीस वर्ष, बल्कि पचास वर्ष आगेकी सोचता है, उसके लिये योजना बनाता है और अपनी संस्था तथा अपने समाजको पहलेकी अपेक्षा अधिक सुखी और समृद्ध छोड़ जाता है। काममें मौलिकता, सुधार और नवीनता लानेसे कर्मयोग विभूतियोग बन जाता है।

समस्त ऐश्वर्यके स्वामी योगेश्वर कृष्ण साधारण योग्यतासे संतुष्ट नहीं होते। वे अपने भक्तोंसे उच्च कोटिकी योग्यताकी अपेक्षा करते हैं। धन्य हैं वे लोग जो कर्मयोगका अनुसरण करते हैं और अपने श्रमसे समाजके ढाँचेको बनाये रखते हैं। परंतु उनसे भी अधिक मूल्यवान् वे थोड़े-से पुरुष होते हैं जो विभूतियोगका अनुसरण करते हैं, जो वीर, नेता या महामानव हैं, जो संसारके कल्याणमें महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं, जो मानव-जातिके सुख, ज्ञान तथा सम्पत्तिका विशेष रूपसे संवर्द्धन करते है।

शक्तियोंका विकास

योग्यताका विकास, जिसपर वेदो और गीताने बहुत जोर दिया है, विकासवादका मूल सिद्धान्त है। मनुष्य-जीवनका प्रारम्भ एक

बीजके रूपमें होता है, जिसमें अनेक प्रकारकी शक्तियाँ छिपी रहती है, वह शक्तियाँ व्यक्तिके बाहर आनी चाहिये और उनका सदुपयोग होना चाहिये। ऐसा करना व्यक्ति और समाज दोनोंके उत्कर्ष तथा सुखके लिये आवश्यक है।

स्वामी विवेकानन्दने लिखा है—"प्रत्येक आत्मामें अनेक दैवी शक्तियाँ छिपी रहती हैं। आन्तरिक एवं बाह्य प्रकृतिको वशमें करके छिपे हुए दैवत्वको प्रत्यक्ष करना ही जीवनका उद्देश्य है।"

योग्यताके विकासकी सम्भावनाएँ प्रायः असीम हैं। बड़े-बड़े विद्वान् भी यदि विनम्रता और सच्चे दिलसे प्रयत्न करें तो अपनी विद्वत्ता और सूझ-बूझको बढ़ा सकते हैं। बौद्धिक विकासमें आयु भी बाधक नहीं। शारीरिक विकास तो अधेड़ावस्थामें रुक जाता है, पर बौद्धिक विकास वृद्धावस्थामे भी जारी रखा जा सकता है। मस्तिष्कको अन्ततक जागृत एवं विकासशील दशामें रखनेके दो उपाय हैं—एक तो उसको कठिन कामोंमें लगाना, दूसरे, कोई-न-कोई नई चीज निरन्तर सीखते रहना।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स कहा करता था कि "सामान्य व्यक्ति अपनी मानसिक क्षमताका केवल दसवाँ भाग ही विकसित करता है।" उन्होंने लिखा है "जितना हमें चाहिये उसकी तुलनामें हम केवल आधा ही जाग्रत हैं। हम अपने मानसिक एवं शारीरिक साधनोंका एक अल्पांश ही उपयोगमें लाते हैं। मोटे तौरपर यह कहा जा सकता है कि जन-साधारण अपनी सीमाओंसे बहुत ही नीचे अपने जीवनको व्यतीत करता है। उसके अधिकारमें

भाँति-भाँतिकी शक्तियाँ रहती हैं, जिनका वह कभी प्रयोग ही नहीं करता ।''

नोबेल पुरस्कारविजेता डॉ० अलेक्सिस कैरलका कहना था कि "बूढ़े, जवान, विद्वान् तथा अनपढ़ सभीका यह परम कर्तव्य है कि अपनी मानसिक शक्तियोंका यथासम्भव विकास करें। सभी अपनी सुषुप्त शक्तियोंको जगा सकते हैं और यह क्रम बुढापेमें भी चालू रखा जा सकता है। वृद्धावस्थामें, जब कि शरीरकी सहज क्रियाएँ मन्द पड़ जाती हैं, चेतना और भी गहरी, विस्तृत तथा स्वच्छ बन जाती है और बौद्धिक, नैतिक क्रियाएँ बराबर जारी रह सकती हैं।'

इस विषयमें अंग्रेजीकी एक मधुर कविता है, जिसका भाषान्तर इस प्रकार है—

पर्वतके उत्तुंग शिखर पर, यदि तरुवर नहीं बन सकते।
तो नीचे घाटीके भीतर, सुन्दरतम एक झाड़ बनो ॥
गर झाड़ी बनना हो दुष्कर तो फिर कोमल घास बनो।
अपनी शीतल हरियालीसे, राजमार्ग सुखमय कर दो ॥
राजमार्ग नहीं बन सकते तो पगडंडी ही बन जाओ।
सूर्य नहीं बन सकते हो यदि, तो तारा ही बन जाओ ॥
आकार नहीं सेवासे ही' मानवको गौरव मिलता है।
तुम चाहे जो कुछ भी हो, उस क्षेत्रमें सबसे श्रेष्ठ बनो ॥

श्रेष्ठताके प्रकार

चमत्कार दिखानेवाली असाधारण या अलौकिक शक्तियोंसे हम बहुत प्रभावित होते हैं, यद्यपि उनसे बहुत थोड़े-से लोगोंको ही लाभ

पहुँचता है। इसके विपरीत, हम उन सामान्य शक्तियोंकी ओर बहुत कम ध्यान देते हैं, जिनका विकास असाधारण दर्जेतक किया गया है और जो हमारे ज्ञान-भण्डारको विस्तृत करती हैं तथा मनुष्यमात्रके जीवनको अधिक सुलभ एवं सुखमय बनाती हैं। यह याद रखनेकी बात है कि जिन विभूतियोंसे श्रीकृष्णने अपनेको एकाकार बताया है, वे केवल धार्मिक या पारलौकिक नहीं, बल्कि संसारके सभी क्षेत्रोंमें होती हैं।

भगवान्‌की दृष्टिमें सांसारिक उत्कृष्टताका मूल्य आध्यात्मिक उत्कृष्टतासे कम नहीं। ये दोनो ही प्रकारकी योग्यताएँ जीवन-निर्वाह तथा समाजकी सुव्यवस्थाके लिये आवश्यक हैं। सच तो यह है कि वेदान्तके अनुसार दोनो एक ही हैं। इसी विचारको भगिनी निवेदिताने अपनी पुस्तक 'रिलीजन एण्ड धर्म' में व्यक्त किया है—"जबतक हम जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें अपूर्व प्रतिभाके लोग पैदा नहीं कर लेते, तबतक हमें सन्तोष नहीं हो सकता। अद्वैतवादको गणित, यन्त्र-विज्ञान, कला और साहित्यमें उतनी ही अच्छी तरह प्रकट किया जा सकता है, जितना कि दर्शन या ध्यानमें, पर यह अधकचरे कामद्वारा कदापि नहीं दर्शाया जा सकता। सच्चा अद्वैती विश्वका स्वामी होता है। वह अपने प्रिय विषयके बारेमें बहुत कुछ नहीं, बल्कि जाननेयोग्य सभी कुछ जानता है। वह अपने कामको साधारण दक्षतासे नहीं, बल्कि यथासम्भव दक्षतासे करता है। मस्तिष्ककी उच्चतम उपलब्धियाँ एक साधना ही हैं।

वह व्यक्ति तो ऋषि है जो किसी प्रकारके ज्ञानकी चरम सीमातक पहुँच गया है ।"

ऐसे ही विचार बेसिल किंगने अपनी पुस्तक 'दि कांक्वेस्ट ऑफ फियर'में लिखे है—"सत्यकी सारी खोज ईश्वरहीकी खोज है, चाहे वह धर्मके क्षेत्रमे हो या विज्ञान, कला या दर्शनके क्षेत्रमें । जब ईसा-मसीह किसी अन्धेको नेत्र देते हैं या पीटर या जौन किसी लँगड़ेको चलनेकी शक्ति देते हैं तो हम उसमें ईश्वरका चमत्कार देखते हैं । किंतु हम ऐसा ही परमात्माका चमत्कार तब भी देखते हैं जब एक व्यक्ति हमें टेलीफोन देता है, दूसरा तार और तीसरा बेतारका टेलीग्राफ देता है । जहाँ कहीं भी चमत्कार है, वह ईश्वरहीका चमत्कार है और वह भगवत्प्राप्तिमें हमें सहायक हो सकता है ।"

यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये कि शक्तिमे वृद्धिसे दैवी सम्पत्तिके गुणोमे वृद्धि हो जाय, यह आवश्यक नहीं । आध्यात्मिकताकी सच्ची कसौटी शक्ति नहीं, चाहे वह लौकिक या पारलौकिक हो, बल्कि मानवकी सेवा है । असुर और दानव ईश्वरको प्रिय नहीं होते, यद्यपि उनकी शक्तियाँ संतोके समान, बल्कि कभी-कभी तो उनसे भी बढ़कर होती हैं। महात्मा गाँधीने सच ही कहा था कि मनुष्य ठीक उसी अनुपातमें महान् बनता है, जितनी भलाई वह दूसरोकी करता है ।

सर्वश्रेष्ठता कैसे प्राप्त की जाय!

सर्वश्रेष्ठताकी पहली शर्त है महत्त्वाकाङ्क्षा, अपने विषयके बारेमें सब कुछ जानने तथा अपने कामको सर्वोच्च ढंगसे करनेके

लिये प्रबल इच्छा। यह उत्कण्ठा तीव्र रुचिका रूप धारण कर लेती है, जिसके बलसे वैज्ञानिक एवं अन्वेषक अपने-अपने ध्येयकी प्राप्तिमें अपने तन, मन, धनको समर्पित कर देते हैं।

मनुष्यके जीवनमें छायी हुई एक गहरी दिलचस्पी उसके मस्तिष्कका ध्रुवीकरण कर देती है। इस प्रकार उसका मन एक चुम्बक बन जाता है और हर समय अपने संचित अनुभव एवं नये अनुभवोंमेंसे ऐसे विचारोंको खींचकर लाता रहता है जो लक्ष्यसे सम्बन्धित हैं या उसके लिये उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। गहरी दिलचस्पी मस्तिष्कको नई शक्ति देती है, सुषुप्त शक्तियोंको जगाती है और श्रेष्ठता, अन्वेषण एवं शोधकी कुंजी है।

कठोर परिश्रम श्रेष्ठताकी दूसरी शर्त है। जिज्ञासुको अपने कार्यसम्बन्धी ज्ञान और विशेष विधिमें पटु होना चाहिये। वास्तवमें एक सुदक्ष कार्यकर्ता जीवनभर उत्सुक शिक्षार्थी बना रहता है और नये विचारों तथा नये उपायोंको अपनानेमें सदा तत्पर रहता है चाहे वह कहीं भी मिलें। वह हर कामको बड़े ध्यानसे, ठीक-ठीक और पूरी विश्वसनीयतासे करनेकी आदत डालता है। वह अपना कृतिको कई बार दोहराता है, उसमें संशोधन और सुधार करता है और उपलब्ध समयके अंदर उसे बढ़िया-से-बढ़िया बनाकर ही अपने पाससे निकालता है।

गहरे अध्ययन और मनन तथा धैर्यपूर्वक प्रश्नोंका समाधान खोजनेके बाद ही नये विचारोंका उदय होता है। वैज्ञानिक आविष्कारोंके लिये एकके बाद दूसरे अनेक प्रयोग करने पड़ते हैं।

आविष्कारोंके जादूगर एडिसनने भाँति-भाँतिके रसायनिक पदार्थोंको लेकर कोई दस हजार परीक्षण किये। तब उसे अपनी बैटरीके लिये एक उपयुक्त जुटावका पता चला।

इसी प्रकार उत्तम लेखनके लिये विस्तृत ज्ञान ही काफी नहीं, बल्कि लिखने, दोहराने और फिर लिखनेका कठिन पुरुषार्थ भी आवश्यक है। टाल्स्टायने अपने विख्यात उपन्यास "वार एण्ड पीस" को सात बार लिखा। जीन हेनरी फेबरने अपनी अधिकांश पुस्तकें साठसे नब्बे वर्षकी आयुमें कठोर परिश्रम और बड़े ध्यानसे तैयार की। 'डिक्लाइन एण्ड फौल ऑफ दि रोमन एम्पायर' नामक ग्रन्थके लिखनेमें लेखकने बीस वर्ष लगाये।

रेडियमकी खोज घोर दरिद्रताके बीच अथक परिश्रमकी वीर-गाथा है। टनों खनिजमेंसे जरा-सा रेडियम अलग करनेमें क्यूरी दम्पतिको चार वर्ष लगे। सारे दिन और महीनोंतक वह दोनो एक टूटे-फूटे सीलनभरे शेडमें काम करते रहे। यही उनकी प्रयोगशाला थी। इस समयका अधिकांश भाग श्रीमती क्यूरीने खड़े-खडे बिताया, जब कि वह एक विशाल कड़ावमें उबलती हुई मिश्रण-को लोहेके डंडेसे चलाती रही, जिसकी लंबाई उनके कदके बराबर ही थी। शेडकी छत इतनी टूटी थी कि जब वर्षा होती तो ऊपरसे पनाले झरने लगते थे। पर उनके पास मरम्मत करानेको पैसे न थे। निस्संदेह उनकी मेहनत एक उच्च कोटिकी तपस्या थी।

सर्वोत्कृष्ट बननेका अर्थ है कार्यमे लगातार सुधार करना, नवीनता लाना, समय एवं श्रम बचानेवाले तरीकोको ढूँढ निकालना, कार्यको सुगम बनाना, बेहतर और सस्ती वस्तुएँ तैयार करना, अनाजके एक दानेके बजाय अनेक दानोका उत्पादन करना। दुनियामे ऐसी कोई चीज नहीं जिसे श्रेष्ठतर न बनाया जा सके।

सर्वाङ्गीण योग्यताका आदर्श तो बहुत दुष्कर है। सारे विषयोमें पारगत कोई-कोई ही बन सकता है; किंतु एक छोटे-से क्षेत्रमें विशिष्टता तो प्रत्येक व्यक्ति प्राप्त कर सकता है। कार्यके जिस भागमे अपनी विशेष रुचि या योग्यता हो, उसमें प्रयास करके मनुष्य उच्चकोटिकी दक्षता प्राप्त कर सकता है। जब जीवनके एक भागमें श्रेष्ठता प्राप्त कर ली तो वह जीवनके दूसरे भागोमें भी श्रेष्ठताको बढ़ावा देती है। मनुष्यका व्यवसाय चाहे कुछ भी हो, उसे सामान्य कार्यकर्ता नहीं बनना चाहिये, वरन् वहाँसे उठकर सर्वश्रेष्ठताके दर्जेमें पहुँचना चाहिये।

अपील

हमारे देशमें मानव-सम्पत्ति तो उच्चकोटिकी है; किंतु दुर्भाग्यवश उसके विकासके लिये अवसर और प्रोत्साहन बहुत कम है। प्रचलित धर्मकी दृष्टिमे सांसारिक उद्यमोमें योग्यताका कोई मूल्य ही नहीं। हर जगह जी-हुजूरी और खुशामदका बोलबाला है। स्वतन्त्र विचार और श्रेष्ठताको कहीं भी फलने-फूलनेका पूरा मौका

नहीं मिलता। आजादीके बाद यदि इस विषयपर हमने उचित ध्यान दिया होता तो अबतक समाजके प्रत्येक क्षेत्रमें अनेक महापुरुष पैदा हो जाते।

हमें वेदो और गीताके तत्त्वको फिरसे ग्रहण करना है। हमे कर्म अथवा श्रमको ऊँचा उठाना है। हमें योग्यताको खोजकर निकालना और प्रोत्साहित करना है। हमें केवल महान् संतो, योगियो और दार्शनिकोंको ही नहीं, वरन् जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें श्रेष्ठ व्यक्तियोको उत्पन्न करना है। हमें सुविख्यात वैज्ञानिक, दूरदर्शी राजनीतिज्ञ, निःस्वार्थ एवं समर्पित शासक, शिक्षाविद्, चिकित्सक, वकील, इंजीनियर, अन्वेषक, खिलाड़ी, कलाकार, साहित्यकार, उद्योगपति, प्रबन्धक, द्रष्टा, संगठनकर्ता एवं नेताओंकी बड़ी आवश्यकता है। कोई महापुरुष तबतक राष्ट्रके प्रति अपना कर्तव्य पूर्ण नहीं कर सकता, जबतक वह कम-से-कम दस ऐसे योग्य व्यक्ति नहीं तैयार कर देगा, जो उसका स्थान ले सकें।

आइये, हम स्वामी विवेकानन्दजीके शब्दोंको याद करें—

"हममेसे प्रत्येकको इसी क्षण यह दृढ़ प्रतिज्ञा करनी चाहिये—"मै ईश्वरका दूत बनूँगा। मैं प्रकाशका स्तम्भ बनूँगा। नहीं, मैं एक देवता बनूँगा।"

उठो! जागो! मत रुको, जबतक कि ध्येयतक न पहुँच जाओ।



यज्ञ-सहकारिताका विधान

जब ब्रह्माण्डकी रचना हुई, ब्रह्म एकसे अनेक बन गया और पूर्णने असंख्य रूप धारण कर लिये जो सभी विभिन्न और विचित्र किंतु अपूर्ण थे। संसारमें सौन्दर्य और सुव्यवस्था सर्वत्र दिखायी देती है, तथापि अपूर्णता सृष्टिका अभिन्न गुण है। प्रत्येक वस्तु दूसरोंको पूरा करती है और दूसरोंद्वारा पूरा होती है।

केवल परमेश्वर ही स्वयंभू, परिपूर्ण और स्वावलम्बी है। एक स्तर नीचे उतरते ही पराधीनता दीखने लगती है। मनुष्यकी आत्मा भगवान्‌का शाश्वत अंश होते हुए भी बिना देहरूपी साथीके

कुछ नहीं कर सकती। जीवात्माका विकास जीवित देहके भीतर ही हो सकता है और जीवित देहका जन्म तथा पालनपोषण अनेक व्यक्तियों और पदार्थोंपर निर्भर करता है। निष्कर्ष यह निकला कि जीवात्मा बिना शरीर, समाज और संसारके कदापि प्रगति नहीं कर सकता।

भगवत्-प्राप्तिके लिये यह परमावश्यक है कि जनजीवन सुचारु ढंगसे चलता रहे, दैनिक आवश्यकताकी चीजें सबको सुलभ हों और परिवेशको स्वच्छ और स्वस्थ बनाये रखा जाय। गीताने इसे लोकसंग्रहकी संज्ञा दी है और इस हेतु किये गये प्रत्येक कार्यको यज्ञ बताया है।

यज्ञ ईश्वरीय विधान है

प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है कि अपने और समाजके जीवनको बनाये रखनेके लिये अपनी योग्यताके अनुसार भरसक प्रयत्न करे। यह दैवी विधान है जो धार्मिक, अधार्मिक, साधु और पापी सबपर समान रूपसे लागू होता है। कोई भी व्यक्ति या समाज इसकी अवहेलना करके न तो जीवित रह सकता है और न आध्यात्मिक बन सकता है। हमारे शास्त्रोंने इस योजनाको यज्ञका नाम दिया है। यज्ञका अर्थ है ईश्वरकी उपासना, स्वेच्छासे दिया गया दान, असली सम्पत्ति और श्रमका जन-साधारणके लिये उपयोग तथा समाजके हितके लिये किया गया कोई भी काम, विशेषकर सामूहिक या संगठित प्रयास।

जगत्का सृजन और पालन करते हुए परमेश्वर स्वयं एक महान् यज्ञमें संलग्न है। इस यज्ञमें आहुति देना प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है। सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, पर्वत, वायु, सरिता, सागर, मेघ और वृक्ष-जैसे जड़ पदार्थ अपने सहज स्वभावसे दूसरोंकी सेवामें लगे हैं और परमात्माके यज्ञमें योगदान करते हैं। मनुष्य-मात्रको अपनी इच्छासे और सोच-विचारकर ऐसा ही करना चाहिये।

"गीताने यज्ञपर बहुत जोर दिया है। श्रीकृष्ण कहते हैं—यज्ञके साथ-साथ सृष्टिकी रचना करके ब्रह्माने कहा—'इससे तुम्हारी वृद्धि होगी। तुम्हारी इच्छाओंकी पूर्तिके लिये यह कामधेनु होगी। इससे देवताओंका पोषण करो और वह देवता प्रसन्न होकर तुम्हारा पोषण करेंगे। इस प्रकार एक-दूसरेको उन्नत करते हुए तुम्हारा परम कल्याण होगा। यज्ञद्वारा सेवित देवता तुम्हें बिना माँगे ही सुख प्रदान करेंगे। वह चोर है जो उनकी दी हुई वस्तुओंका भोग तो करता है, पर बदलेमें उनको कुछ भी नहीं देता। जो यज्ञसे शेष बचे हुए अन्नको खाते हैं, वे सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं। पर वे पापी जो केवल अपने ही लिये भोजन बनाते हैं वे वास्तवमें पाप ही खाते हैं। (३ । १०–१३) "पृथ्वीपर इस प्रकार घूमते हुए संसार-चक्रका जो पालन नहीं करता, जो पापमय जीवन व्यतीत करता है और इन्द्रिय-सुखको ही सब कुछ मानता है, उसका जीवन व्यर्थ है।" (३ । १६) "जो यज्ञ नहीं करता उसके लिये यह

लोक सुखमय नहीं है, दूसरा लोक तो सुखमय हो ही कैसे सकता है ?" (८ । ३१)

अपनी सर्वश्रेष्ठ चीजका जनकल्याणके लिये बलिदान करना, यह कर्तव्य सृष्टि-रचनाके समय ही मानवमात्रके लिये निर्धारित कर दिया गया था, उसे यह वचन भी दिया गया था कि इस धर्मका पालन करनेसे उसे सुख मिलेगा, उसका विकास होगा और वह पूर्णताको प्राप्त करेगा । अपने ज्ञान, सम्पत्ति और परिश्रमका सबकी भलाईके लिये जितना भी उपयोग कर सकें कीजिये । जो दूसरोको सुख देनेमें मग्न रहता है वह स्वयं भी सुखी रहता है । अपनेको और दूसरोंको सुखी बनानेका यही सर्वोच्च उपाय है ।

वेदोंने भी यज्ञका महत्त्व गाया है, 'यज्ञ ही सबको खिलाता है । यज्ञ ही उन्नति और सौभाग्य है । बलिदान ही महत्ता है । यज्ञ ही आत्माका प्रकाश है । बलिदान आनन्द है । संत लोग देवोंकी उपासना यज्ञद्वारा करते हैं । यज्ञका झंडा सदा ऊँचा रखो ।'

श्रीअरविन्दका कहना है—'सृष्टि एक है; उसके पृथक्-पृथक् खण्ड परस्पर निर्भरताके सिद्धान्तपर ही आधारित हो सकते हैं जिसमें प्रत्येक दूसरोंकी सहायतासे बढता है और सबके लिये जीता है । जहाँ आत्म-बलिदान स्वेच्छासे नहीं किया जाता, वहाँ प्रकृति बलपूर्वक उसे करा लेती है और अपने नियमकी तुष्टि कर लेती है । पारस्परिक लेन-देन जीवनका अटल नियम है, जिसके बगैर वह एक क्षण भी नहीं टिक सकता ।

सर्वव्यापी ब्रह्म यज्ञमे सदैव विद्यमान रहता है। (३।१५)। यज्ञके हर काममें मनुष्य अपने रचयितासे मिलता है। प्रार्थना, जप और ध्यानद्वारा तो सम्पर्क उस परमात्मासे होता है जो सुदूर स्वर्ग या क्षीरसागरमे रहता है। प्यारपूर्ण और निःस्वार्थ सेवाद्वारा उस परम पुरुषसे मिलन होता है, जो घट-घट वासी है, जो पशु, पक्षी और मनुष्यके रूपमें पृथ्वीपर विचरता है और जो प्राणीमात्रके सुख-दुःखको भोगता है।

यज्ञ करना सभीका अनिवार्य कर्तव्य है। भक्त, ज्ञानी और सन्यासी भी इससे मुक्त नहीं। गीतामे स्पष्ट रूपसे आदेश है कि बुद्धिमान्को अपनी सात्त्विक या पवित्र स्थिति बनाये रखनेके लिये निरन्तर और निःस्वार्थभावसे यज्ञ, तप और दान करते ही रहना चाहिये (१८।५, ६)।

सहयोगद्वारा यज्ञ

एक व्यक्ति अकेले भी बहुत कुछ कर सकता है, पर उसकी शक्ति सीमित होती है। परन्तु दूसरोंका सहयोग लेकर वह अपनी शक्तियोंमें अपार वृद्धि कर सकता है। विभिन्न योग्यता और हुनर-वाले कई लोग मिल-जुलकर संगठनके रूपमें जितना काम कर सकते हैं उतना वह अलग-अलग रहकर नहीं कर सकते।

स्वामी रामतीर्थने यज्ञकी बड़ी मार्मिक व्याख्या की है। वे कहते हैं। "आदित्य (अर्थात् सूर्य भगवान्, नेत्रोंके देवता) को अर्पण करनेका अर्थ यह सकल्प है कि मेरे, अशुभ आचरणके कारण किन्हीं नेत्रोंको भी कष्ट न पहुँचे।

"इन्द्र (जो हाथोंके देवता हैं) को अर्पण करनेका अर्थ हुआ देशमें सारे हाथोंकी भलाईके लिये काम करना, काम चाहनेवाले करोड़ों निर्धन तथा बेकार हाथोंको रोजगार देना या दिलानेकी व्यवस्था करना। इन्द्रका पेट भर जानेसे सारे देशमें सुख-समृद्धि आ जायगी। जब सभी हाथ काममें लग जायेंगे तो दरिद्रता कहाँ रहेगी?

"सबका हित करनेके लिये बहुत-से हाथोंको मिलाना इन्द्र-यज्ञ है। बहुत-से मस्तकोंको मिलाना बृहस्पति यज्ञ है। बहुत-से हृदयोंको मिलाना हृदयके देवता-चन्द्रका यज्ञ है। सारांश यह है कि देवताओंके लिये यज्ञ करनेका अभिप्राय है अपने हाथ सारे राष्ट्रके हाथोंको, अपनी आँखें समस्त राष्ट्रकी आँखोंको, अपनी बुद्धि सारे देशवासियोंकी बुद्धिको समर्पण करना, अपने निजी हितोंको सारे देशके हितोंमें विलीन करना, सबके साथ एकात्मभावका अनुभव करना और सबकी भलाईमें ही अपनी भलाई देखना।"

रवीन्द्रनाथ ठाकुरने कहा था—"मनुष्य जब अपने साथियोंसे पूरी तरह नहीं मिल पाता तो वह अपना वास्तविक स्तर खो बैठता है। पूर्ण पुरुष वही है जिसमें इस तरह मिलनेकी सामर्थ्य हो। अकेला व्यक्ति एक विभाजित प्राणी है। मिल-जुलकर ही मनुष्यने वह सब हासिल किया है जिसका जीवनमें मूल्य है—ज्ञान, निष्ठा, शक्ति, सम्पत्ति। सभ्यता क्या है? मेल-जोलकी इस अवस्थाका ही नाम है जिसमें हर व्यक्तिकी शक्ति समूहकी शक्तिमें वृद्धि करती है और समूहकी शक्ति हर व्यक्तिको शक्ति देती है।"

समाजके उत्थान ही नहीं वरन् अस्तित्वके लिये भी परमावश्यक है कि उसके सदस्योंके बीच परस्पर सहायता और सहयोग हो। इसी बातको समझाते हुए प्रसिद्ध समाजशास्त्री सी० ए० सौरोकिनने लिखा है—"केवल अहवादी सदस्योंद्वारा किसी शान्तिमय या प्रगतिशील समाजका निर्माण नहीं हो सकता। परस्पर सहानुभूति और सहयोगके अभावमें वे लोग सदा आपसी झगड़ोंमे फँसे रहेंगे और काम कुछ भी न कर सकेंगे।"

भगवान् बुद्धका कहना था—"तेरा भोजन, वस्त्र, घरका सुख, तेरी दुःखसे सुरक्षा, सुखका भोग, दूसरोंकी सहायतापर निर्भर है और समाजके घरोंमे ही मिल सकता है। मानवमात्रसे प्रेम करना तेरा कर्तव्य है; क्योंकि उनकी मैत्रीहीसे तेरा हित हो सकता है।"

मारकस ऑरेलियसने लिखा है—"हम सहयोगके लिये पैदा हुए हैं, जैसे हमारे शरीरमें हाथ, पैर, पलकें और जबड़े आपसमें सहयोग करके अपना काम करते हैं।"

एल्फ्रेड, एडलर, यशस्वी मनोवैज्ञानिकके कथनानुसार "पुण्यका तात्पर्य यही है कि मनुष्य अपना काम ठीकसे करता है और पापका अर्थ यही है कि वह सहयोगमें बाधा डालता है। जीवनकी सभी समस्याएँ सहयोगके लिये योग्यता और तैयारीकी माँग करती हैं।"

मानव-कल्याणके लिये सहयोगकी महत्तापर वेदोंने भी बारंबार बल दिया है—"एक होकर रहो।" "साथ-साथ

चलो, एक होकर बोलो।" "एकता रखो, मेलसे बोलो, एकताका अनुभव करो।" "तुम्हारी प्रार्थना समान हो, तुम्हारी गोष्ठीका उद्देश्य एक हो।" "तुम्हारा संकल्प एक हो, तुम्हारे दिलोंमें मेल हो, ध्येय समान हो और आपसमें पूरी एकता रहे।"

सहयोगके प्रकार

सहयोग दो प्रकारका होता है। पहलेमे बहुत-से लोग मिल-कर एक ही काम करते हैं, जैसे लकड़ीका कुन्दा उठाना, जमीन खोदना, सड़क बनाना। यह सहयोगका प्रारम्भिक स्तर है। काम करनेवालोंकी संख्या वृद्धिमे करके इस सहयोगकी शक्तिको बढ़ाया जा सकता है।

ऊँचे स्तरका सहयोग वह है जहाँ बहुत-से लोग साथ-साथ काम करते हैं, पर उनकी बुद्धि, कौशल और प्रकृति अलग-अलग होती है। उनका काम अलग-अलग, पर उद्देश्य एक होता है। ऐसे सहयोगके लिये कार्य-विभाजन, अपने-अपने काममें निपुणता और संगठन आवश्यक होते है। ऐसे यज्ञकी बड़ी सुन्दर मिसाल हमारे शरीरमें पायी जाती है। सब अङ्ग अपना अलग-अलग काम करते हैं; पर एक दूसरेकी सहायता करके शरीरको जीवित, स्वस्थ और सुखी रखनेके लिये प्रयत्नशील रहते है। कोई भी अङ्ग अपने लिये जीवित नहीं रहता और न दूसरे अङ्गोको नुकसान पहुँचाकर अपनी उन्नति करना चाहता है। सभी अङ्ग पूर्ण एकताकी भावना लेकर अपना-अपना काम सारे शरीरकी भलाईके लिये करते हैं।

समुद्र-मन्थनकी कथा सहयोगका पाठ सिखाती है। देवता और असुर, जिनकी प्रकृति एक-दूसरेसे सर्वथा विपरीत थी, एकजुट होकर समुद्रको मथने लगे। उनके कठिन परिश्रम और सहयोगके फलस्वरूप उन्होंने भाँति-भाँतिके बहुमूल्य पदार्थोंको यहाँतक कि अमृत भी प्राप्त कर लिया। इस उपाख्यानसे यह शिक्षा मिलती है कि अथक पुरुषार्थ और सहयोगसे जीवनमें सब कुछ मिल सकता है।

सहयोगसे बल तभी आता है जब हाथों और मस्तिष्कोंके साथ दिल भी मिला दिये जाते हैं। अपने काम और अपने सहयोगियोंके प्रति प्रेम ही निष्ठावान सेवाके लिये प्रेरणा देता है। सहयोगके लिये एक और चीज चाहिये—टीम या टोलीकी भावना। खिलाड़ी अपने लिये नहीं, अपनी टीमके लिये खेलता है। टीमकी विजय ही उसकी विजय है, टीमका यश उसका यश है। टोली या समूहके स्वार्थमें ही उसका स्वार्थ भी निहित है। राष्ट्र और समाजके हित पहले आते हैं, उसके बाद समूह या संगठनके, और उसके भी बाद अपने निजी हित। जिस संगठनके नेता और सदस्य आपाधापीमें लगे हों वह पनप नहीं सकता।

तृष्णाकाङ्क्षा, धूर्तता, अहङ्कार, स्वार्थपरता, क्रूरता तथा अन्य आसुरी गुण सामूहिक प्रयासकी जड़ काट डालते हैं। दैवी गुण, जैसे सत्यप्रियता, ईमानदारी, शिष्टाचार, विनम्रता, सहयोगकी सफलताके लिये आवश्यक हैं। सच तो यह है कि यह गुण दूसरे

लोगोंके साथ विचारों और हितोंके संघर्षके बीच काम करके ही प्राप्त किये जा सकते हैं।

संयुक्त प्रयासके फलस्वरूप गुट बन जाता है। दुर्भाग्यवश नया गुट बनते ही उसमें गुटबन्दीका घुन लग जाता है। और वह दल या तो अपने लिये विशेष अधिकारों और सुविधाओंकी माँग करने लगता है या अन्य वर्गोंसे संघर्ष छेड़ देता है। नये धर्मों और सम्प्रदायोंका यही इतिहास रहा है। वह अपने अनुयायियोंको तो एक सूत्रमें बाँधते हैं पर दूसरे धर्मों तथा सम्प्रदायोंके प्रति घृणा और वैरभाव फैलाते हैं। इस प्रकार सहयोग समाजके लिये आशीर्वाद न रहकर अभिशाप बन जाता है।

सर्वोच्च प्रकारका यज्ञ लोगोंके गुण, स्वभाव और रुचिमें विभिन्नतासे घबराता नहीं वरन् उसका पूरा लाभ उठाता है। इसमें नेता और अनुयायी, विचारक और वक्ता, बहिर्मुखी तथा अन्तर्मुखी, श्रमिक और पूँजीपति, साधु और गृहस्थ, सब अपने-अपने ढंगसे, लेकिन मिल-जुलकर और सभीकी भलाईके लिये प्रयास करते हैं।

सहयोग और विज्ञान

एक समय वैज्ञानिकोंको विश्वास था कि प्रकृतिके दाँत और नाखून खूनसे लाल हैं और सभ्यताकी प्रगति प्रेम तथा सहयोगसे न होकर सतत संघर्षसे होती है, जिसमें अशक्त और अविकसित लोग बलवान्, मक्कार और क्रूर लोगों द्वारा मिटा दिये जाते हैं। इस उजड्डताके सिद्धान्तने वास्तवमें मानव-जातिको बहुत क्षति पहुँचायी है।

अब वैज्ञानिकोंको ठीक बातका पता लग गया है। वे जान गये हैं कि स्पर्धा और संघर्ष कुछ हदतक तो जरूरी और उपयोगी हैं। पर यह निम्न कोटिका विधान है। मानवविकासके लिये प्रेम, सहयोग और परोपकार ही उच्चतम नियम है और यही आध्यात्मिकता-की कुंजी है।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक आयन्स्टाइनने लिखा है—'प्रायः हमारे सभी काम और अभिलाषाएँ दूसरे जीवोंके अस्तित्वसे जुड़ी हुई हैं। हम दूसरोंका उत्पन्न किया हुआ अन्न खाते हैं। दूसरोंके तैयार किये हुए कपड़े पहनते हैं और दूसरोंके बनाये हुए मकानोंमें रहते हैं। हमारे ज्ञान तथा विश्वासोंका अधिकतम भाग दूसरोंने, दूसरोंकी रची हुई भाषामें हमको दिया है। किसी समुदायमें मनुष्यका मूल्य इस बातपर निर्भर करता है कि उसकी भावनाएँ, विचार और कार्य उसके साथियोंके लिये कितने कल्याणकारी हैं। इस दिशामें उसके व्यवहारके अनुसार ही हम उसे भला या बुरा कहते हैं।"

सी० जे० हेरिक अपनी पुस्तक 'मानव-प्रकृतिका विकास' में लिखते हैं—"मानव समाजमें, जैसा कि वह अब संगठित है, जंगलका नियम-पकड़ो और मारो—कुंठित हो गया है।—इस सत्यको हम जितनी जल्दी समझ लें उतना ही हमारे लिये अच्छा होगा। नैतिक मान्यताओंके अतिरिक्त केवल जीवविज्ञानकी दृष्टिसे भी परहित करनेवाला व्यवहार ही सांस्कृतिक विकासके सर्वोच्च स्तरका द्योतक है। यह मूल बात है और केवल इसीसे संसारके राष्ट्रोंको आपसी तनाव-खिंचावके संकटसे बचाया जा सकता है।

इसी प्रकार प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक एल्फेड एडलर कहते हैं—"मनुष्य सहयोग-कला सीख जानेके कारण ही श्रम-विभाजनकी महत्त्वपूर्ण खोज कर सके। व्यवसायसम्बन्धी समस्याका समाधान केवल इसीमें है कि मनुष्य मेहनत करे, सहयोग करे और समाज-कल्याणके कार्योंमें योगदान दे। मनुष्यकी अन्तःप्रेरणा तो सदा यह कहती रही, अब लोग वैज्ञानिक दृष्टिसे भी इसकी आवश्यकताको समझ गये हैं। मानव-जाति उन्हीं व्यक्तियोंको विभूति (जीनियस) कहती है, जिन्होंने समाजकी बड़ी-बड़ी सेवाएँ की हैं।"

विज्ञानके इतिहासमें असम्भवको सम्भव और कठिनको सरल बनानेके उदाहरण भरे पडे हैं। उसने किसी समय अतिमानवीय समझे जानेवाले कितने ही चमत्कारोंको जनसाधारणके लिये सुलभ कर दिया है। ऐसा लगता है कि उसे इच्छाओंको पूरा करनेवाली कुंजी मिल गयी है। वह कुंजी क्या है ? विज्ञानकी अद्भुत सफलताके कई रहस्य है, किंतु मूलभूत और महत्त्वपूर्ण रहस्य है विभिन्न योग्यताओंवाले असंख्य लोगोंका विश्वव्यापी सहयोग। जाति, रंग, भाषा, धर्म और राष्ट्रीयतामें विभिन्नता होते हुए भी सभी वैज्ञानिक प्रकृतिके रहस्योंको खोजने, ज्ञानका विस्तार करने और मानव-जीवनको सुखी बनानेके लिये साथ-साथ काम कर रहे हैं।

विज्ञानकी सबसे बड़ी उपलब्धि चन्द्रमामें मनुष्यके उतर जानेकी है। यह सहयोगका बहुत बड़ा चमत्कार था, जिसमें चार लाख वैज्ञानिक इन्जीनियर, विशेषज्ञ और मजदूर बरसोंतक लगे रहे और मनुष्य-जातिके सारे पूर्वार्जित ज्ञानका उपयोग किया गया।

विज्ञान पुकार-पुकार कर कह रहा है कि "हमारी सारी समस्याओंका हल सहयोग ही है। इसीके द्वारा अच्छा समाज और सुन्दर संसार बन सकता है। विभिन्न क्षेत्रोंमें विशेषकर धर्मोंके बीच सहयोग मानव-समाजकी सबसे बड़ी आवश्यकता है।

एक अपील

हमारे देशमें सहयोगसे काम करनेकी भावनाका अभाव है। अच्छे पढे-लिखे लोग भी साथ मिलकर काम नहीं कर सकते। स्वयंसेवी संगठनोंकी तो बात ही क्या, कारखानों, निगमों और दफ्तरोंमें भी सहकारी प्रयासकी कोई स्वस्थ या सर्वमान्य परम्परा नहीं। दिलसे सहयोग तभी हो सकता है जब लोगोंको पूरा विश्वास हो जाय कि वह किसी व्यक्तिके निजी स्वार्थके लिये नहीं बल्कि सबकी भलाईके लिये काम कर रहे हैं। परंतु हमारे देशमें तो अधिकांश लोग अपने-अपने अहंकार, स्वार्थ और लोभमें इतने डूबे हुए हैं कि उन्हें अपनेसे बड़ी कोई चीज ही नहीं दिखायी देती जो उनसे सेवा करानेके योग्य हो। हम दूसरोंके हाथ-पैरसे तो काम लेना चाहते हैं; पर उनके मस्तिष्क, विचारों और सुझावोंका हमारे लिये कोई मूल्य नहीं। फलस्वरूप हमारे देशमें जो ज्ञान और अनुभव उपलब्ध है उसके अल्पांशका ही लाभ हमलोग उठाते हैं।

घरमें, स्कूलमें, खेतमें, कारखानेमें, दफ्तरमें, जहाँ भी बहुत-से मनुष्य मिल-जुलकर एक साथ काम करते हैं, वहाँ यज्ञ होता है, वहाँ

कृष्ण भगवान् स्वयं विराजमान रहते हैं और प्रत्येक कार्यमें दिलचस्पी लेते हैं। सार्वजनिक सेवाका हर काम यज्ञ है, परंतु वह सात्त्विक अथवा ऊपर उठानेवाला तभी बनता है, जब वह समर्पणभावसे भगवान्‌की भेंट मानकर और अपने साथियोंकी भलाईके लिये किया जाय।

आइये, शास्त्रोंके इस मूलपाठको हम सब फिरसे सीखें। अपने देशको सशक्त, समृद्धशाली और सुखी बनानेका भरसक प्रयत्न करें। आइये, गरीबी बेरोजगारी भ्रष्टाचार, बाढ़-सूखा, निरक्षरता, मूल्यवृद्धि-जैसी अनेक समस्याओंको सुलझानेके लिये हम अपनेको समर्पित करें। यह समस्याएँ जटिल अवश्य हैं, किंतु हमारे सामूहिक ज्ञान और पुरुषार्थके आगे इन्हे झुकना ही पड़ेगा।

हमारे महात्मा और धर्मात्मा लोगोंको चाहिये कि यज्ञके बहुमूल्य पाठको व्यवहारमे लायें और जनताको सिखाएँ। उन्हें धर्मको पुनः स्थापित करने और प्रजाके जीवन-स्तरको ऊँचा करनेके लिये प्रयत्न करना चाहिये। अपने देश और देशवासियोंको सारे संसारके लिये आदर्श बनाना चाहिये। भगवान्‌ने यह काम उन्हींको सौंपा है और श्रीकृष्णको प्रसन्न करनेका इससे अच्छा और कोई तरीका नहीं कि वे इस कामको संगठित उद्योगसे और पूरा मन लगाकर सम्पन्न करें।



प्रकाशमय ज्ञानदीप

मनुष्य शरीरसे बहुत दुर्बल है किंतु बुद्धिके रूपमें उसे ऐसी अद्भुत क्षमता मिली हुई है जिससे वह प्रकृतिके रहस्योंका उद्घाटन कर लेता है और उसकी शक्तियोंको वशमें कर लेता है। बीमारी और दर्दपर विजय प्राप्त कर लेता है एवं ध्वनि, पदार्थों और मनुष्योंको तीव्र गतिसे दूर-दूरतक ले जा सकता है।

बुद्धि ही शरीरका शासक है। जब शासकमें विकार आ जाता है तब शारीरिक क्रियाएँ बिगड़ जाती हैं और जीवन दुःखमय हो जाता है।

बुद्धिमें भाँति-भाँतिकी विलक्षण शक्तियाँ सुषुप्त रहती हैं, जिन्हें विकसित और शिक्षित किया जा सकता और जिनके द्वारा ज्ञानका उपार्जन, संचयतथा विस्तार किया जा सकता है। ज्ञानचक्षु उन चीजोंको देख सकते हैं जो आँखोंसे अदृश्य हैं या भविष्यमें आने-वाली हैं। बुद्धिद्वारा मानव स्वप्न देख सकता है और उन्हें सत्य बना सकता है।

*

एक ओर बुद्धिसे मनुष्यको बड़ी-बड़ी शक्तियाँ मिलती हैं तो दूसरी ओर उसकी सारी जिम्मेदारियाँ भी बुद्धिहीके कारण है। बुद्धिसे ही इन जिम्मेदारियोंको निभाया और समझा जा सकता है। बुद्धिसे ही मनुष्य और पशुमें भेद होता है।

जीवनका सारथी

हमारे शास्त्रोंने बुद्धिकी महत्ताको समझकर उसे जीवनका सारथी बताया है। जीवात्मा शरीरको जीवित अवश्य रखता है, किंतु अकेले कुछ नहीं कर सकता। जीवनका विकास बुद्धिकी सहायतासे ही किया जा सकता है।

विख्यात गायत्री-मन्त्रके अतिरिक्त वेदोंमें अनेक स्थानोपर बुद्धि और ज्ञानकी महिमा गायी गयी है। 'हम पूर्ण ज्ञान प्राप्त करें।' 'हम कुशाग्र बुद्धि चाहते हैं। 'हे महान् बननेके इच्छुक! तू ज्ञान उपार्जन कर।' 'मेरी बुद्धिको सशक्त करो, उसकी वृद्धि करो।' 'तुम हमें बौद्धिक बल और ज्ञान प्रदान करो।' 'हे दयालु परमेश्वर! हमें सम्पूर्ण बुद्धि और ज्ञानका वरदान दो।'

गीताने भी बुद्धिपर बहुत जोर दिया है। "मैं बुद्धिमानोंकी बुद्धि और तेजस्वियोंका तेज हूँ (७।१०)।" "भूत-प्राणियोंमें ज्ञानशक्ति मैं हूँ (१०।२२)।" "मै स्त्री-गुणोमें स्मृति और मेधा हूँ (१०।३४)।" गीताकी सारी शिक्षा ही बडे ऊँचे बौद्धिक स्तरपर है और तर्कके प्रयोगपर बड़ा जोर देती है। श्रीकृष्णने तो गीताके आरम्भमे ही बुद्धियोगका उपदेश (२।३९) और बुद्धिका आश्रय लेनेका अनुरोध किया है (२।४९)। अपना उपदेश

समाप्त करते हुए श्रीकृष्णने फिर बुद्धियोगका सहारा लेनेका आग्रह किया है (१८ । ५७)। अन्तमें, अर्जुनपर अपने विचार लादनेके बजाय वे कहते हैं, "इस रहस्यमय ज्ञानको अच्छी तरह विचारकर जैसी तेरी इच्छा हो वैसा ही कर" (१८ । ६३)।

विशेषकर योगको कार्य-कौशल बताकर तो गीताने मेधा और दक्षताको योगशिरोमणि ही बना दिया है। बुद्धियोग सभी योगोंका प्राण है । कोई कार्य, चाहे वह कितना भी पुनीत क्यों न हो, यदि वह बुद्धिहीन, बुद्धिके विपरीत या अनावश्यक है एवं कुसमयमें किया जाता है, तो वह न तो योग बन सकता है और न भगवान्‌के पास पहुँचा सकता है। उदाहरणार्थ, जहाँ गीता या भागवतपर प्रवचन हो रहा है, वहाँ कोई भक्त समाधि लगाकर बैठ जाय या कीर्तन करने लगे तो क्या वह भगवान्‌को प्रिय लगेगा ?

यह उदाहरण शायद बच्चोंकी-सी बात समझी जाय, पर क्या हमारे बहुत-से धार्मिक लोग ऐसे ही कार्योंमें संलग्न नहीं हैं जब कि देशको बड़ी आवश्यकता एक महायज्ञ की है, जिसमें सभी भले लोग मिल-जुलकर गरीबी, बेरोजगारी, आलस्य, अराजकता, बीमारी, दंभ, लोभ और भ्रष्टाचारको दूर करनेका सामूहिक प्रयास करें ?

यह आम धारणा है कि शरीरका अङ्ग होनेके कारण बुद्धि घृणित और आध्यात्मिक विकासमें बाधक है। किन्तु हमारे

शास्त्रोंने सुनिश्चित कर दिया है कि बुद्धिका विकास और प्रयोग हमारा सबसे प्रमुख धार्मिक कर्तव्य है।

अधिकांश धर्मोंका एक संस्थापक रहा है। उसके अनुपम व्यक्तित्व, उपदेशों और कृतियोंको केन्द्र बनाकर ही उन धर्मोंका प्रचार किया गया। यदि संस्थापकका प्रभुत्व या महिमा किसी तरह भी डगमगा जाय तो उस धर्मका सारा ढाँचा ही खतरेमें पड़ जाय। इसलिये ऐसे सारे धर्मोंको विवश होकर अपने संस्थापककी जीवनचर्या तथा उपदेशोंको बुद्धि और तर्कसे परे तथा उनमें श्रद्धा-विश्वासको भगवत्प्राप्ति एवं मोक्षका एकमात्र साधन बताना ही पड़ता है। इसीलिये वे हर प्रकारकी शंका, प्रश्न और नये विचारपर कड़ा प्रतिबन्ध लगा देते हैं।

हिन्दू-धर्मका इतिहास इससे बिलकुल भिन्न है। इसका कोई संस्थापक नहीं। वेदों और उपनिषदोंमें उस ज्ञानका संकलन है, जिसे समय-समयपर अनेक ऋषियोंने खोज निकाला, जिनमेंसे अधिकांशके तो अब नाम भी ज्ञात नहीं।

उनका खोजा हुआ ज्ञान शताब्दियोंके महान् चिन्तन, सूक्ष्म अवलोकन और विस्तृत अन्वेषणका सामूहिक परिणाम है। उनके द्वारा सत्यकी खोज आधुनिक विज्ञानके ढगसे, बिना डर और पूर्वाग्रहके की गयी थी। चित्ताकर्षक विचारोंके मोहमें न फँसकर वे उन्हे कड़ी-से-कड़ी कसौटीपर कसकर ही किसी दृढ निश्चयपर पहुँचते थे। 'नेति, नेति' यह नहीं, यह नहीं, उनका आदर्श वाक्य था और उनकी सतत प्रार्थना थी—'मुझे

असत्यसे सत्यकी ओर, अन्धकारसे प्रकाशकी ओर, मृत्युसे अमरत्व-की ओर ले चलो।' उनके लिये ज्ञान सीमित नहीं असीम था। स्थिर और अचर नहीं बल्कि गतिशील, प्रगतिशील और विकासशील था। वे अपने ज्ञानसे सतुष्ट न होकर सदा जिज्ञासु बने रहते थे। वे आविष्कार और नवीनीकरणके समर्थक थे।

दो प्रकारका विज्ञान

बुद्धिका मुख्य फल ज्ञान है। ज्ञान भाँति-भाँतिका होता है, किंतु उन सबको दो कक्षाओमे बाँटा जा सकता है—एक धार्मिक दूसरा सासारिक।

बहुत-से लोगोका विचार है कि केवल आध्यात्मिक ज्ञान ब्रह्मविद्या ही सर्वोच्च ज्ञान होनेके कारण सीखने योग्य है। किंतु हमारे प्राचीन ऋषियोंने अपने अनुभव और दिव्य दृष्टिके आधारपर यह उद्घोषणा की थी कि मनुष्यको दोनो प्रकारका ज्ञान चाहिये। ब्रह्मविद्या ईश्वर-प्राप्तिके लिये और अन्य विद्याएँ जीवनको सुखी बनानेके लिये। ईशोपनिषद्का कहना है कि जो केवल लौकिक ज्ञानके पीछे पडे है वे अन्धकारमें हैं; किंतु उससे भी गहरे अन्धकारमें वे लोग हैं, जो केवल आध्यात्मिक ज्ञानमें मग्न रहते हैं।

सांसारिक ज्ञान अनीश्वरवादी अथवा ईश्वर-विरोधी नहीं है। कला, विज्ञान, साहित्य, कविता और संगीत आत्माके सीमान्त प्रदेश अथवा ब्रह्मलोककी झाँकी दिखानेवाली खिड़कियाँ हैं।

हमारे जीवनका नियन्त्रण करनेवाले बहुत-से शारीरिक, भौतिक और नैतिक नियम सांसारिक ज्ञानके अन्दर आते हैं। जाने या अनजाने इन नियमोंका उल्लंघन करनेसे आप-से-आप कठोर दण्ड मिलता है। यदि जीवनको सुखी बनाना है तो इन नियमोंका अनुसन्धान और पालन करना ही होगा।

ज्ञानकी श्रेणियाँ

यह सभी जानते हैं कि ज्ञानको सत्य और मिथ्या अथवा सही और गलतमें विभाजित करना पड़ता है। किंतु सत्यकी भी मात्राएँ होती हैं। उदाहरणार्थ कुछ सत्य आंशिक होते हैं, कुछ सार्वभौमिक। कुछ दूसरे सत्योंको जन्म देते हैं' कुछ नहीं देते। कुछ नियम थोड़ोंपर, कुछ सबपर लागू होते हैं। कुछ सत्य हर समय और कुछ यदा-कदा, असाधारण परिस्थितियोंहीमें अनुभव किये जा सकते हैं। इसलिये सत्य अथवा ज्ञानके कई वर्ग करना आवश्यक है। गीताने जो वर्गीकरण किया है, वह बड़ा सुन्दर और ज्ञानके विकासके लिये अत्यन्त उपयोगी है। "जिस ज्ञानसे मनुष्य सब भूतोंमें एक परमात्माको, खण्डोंमें एक अखण्डको देखता है, वह ज्ञान सात्त्विक है। जिस ज्ञानसे मनुष्य सब प्रकारके भूतोंको भिन्न-भिन्न और अलग-अलग समझता है, वह ज्ञान राजस है। जो ज्ञान बिना वास्तविकता-को समझे प्रत्येक भूतको समग्र मान लेता है, वह तर्कहीन और संकुचित ज्ञान तामस कहा जाता है (१८। २०—२२)।"

इस वर्गीकरणके अनुसार सर्वश्रेष्ठ ज्ञान वह है, जो विभिन्नतामें एकताका दर्शन करता है और नये तथ्यों तथा विचारोंका स्वागत

करता है। वह असंगत तथ्योंका एकीकरण करके एक नियमके अन्तर्गत लाता है और विभिन्न विचारधाराओंको मिलाकर एक उच्चतर सिद्धान्त स्थापित करता है। वह विरोधी मतोंमें समन्वय करता है। इस तरह वह ज्ञानका विस्तार करता है।

मध्यम वर्गीय ज्ञान विभिन्नता और भेदोंको अन्तिम मानकर ज्यों-का-त्यों छोड़ देता है। बिखरे तथ्योंको एक सूत्रमें बाँधने या एक नियमके अन्दर लानेकी वह कोई प्रेरणा नहीं देता। ज्ञान-विस्तारके प्रति वह उदासीन रहता है।

निम्नतम कोटिका ज्ञान अपनेको पूर्ण और अन्तिम मानता है। उसका दृष्टिकोण संकीर्ण और विभाजनात्मक रहता है। अन्य सभी ज्ञानको वह गलत, हीन और हानिकर मानता है। एकाधिकारका दावा करके वह स्वतन्त्र विचार और ज्ञान वृद्धिपर रोक देता है।

जो धर्म अन्य सभी धर्मोंसे ईर्ष्या-द्वेष करे, जो देवदूत भूत, भविष्य और वर्तमानके सभी अन्य देवदूतोंको अस्वीकार करे और जो देवता दूसरे देवताओंको सहन न कर सके, "वे सब-के-सब अधकचरे ज्ञानकी उपज हैं"। इसी प्रकार वह धर्म निम्न कोटिका है, जो मोक्षका एकमात्र साधन होनेका दावा करता है, जो विज्ञानको शत्रु समझता है या सांसारिक और धार्मिक कार्योंके बीच खाई खोदता है। जब सच्चे ज्ञानका उदय होता है, ऐसे अन्धविश्वास छूट जाते हैं, सभी काम भगवान्‌के काम दीखने लगते हैं और सर्वत्र ईश्वरका दर्शन होने लगता है।

समालोचनाकी क्षमता

दैनिक व्यवहारके लिये प्रत्येक व्यक्तिमें समालोचनात्मक क्षमता

होनी चाहिये, जिससे वह पदार्थों और विचारोंका मूल्यांकन कर सके, अनाजको भूसीसे, आवश्यकको अनावश्यकसे और आंशिक सत्यको सार्वभौमिक सत्यसे पृथक् कर सके तथा सबके हित और कुछ लोगोंके हितके भेदको समझ सके। इस शक्तिको विवेक कहते हैं और आध्यात्मिक जगत्‌मे इसका बड़ा ऊँचा स्थान है।

वास्तवमें गीताने इसी आधारपर बुद्धिकी तीन श्रेणियाँ बतायी है। "प्रवृत्ति और निवृत्ति, कर्तव्य और अकर्तव्य, भय और अभय तथा बन्धन और मोक्षको जो बुद्धि तत्त्वसे जानती है, वह सात्त्विक है। जिस बुद्धिके द्वारा मनुष्य धर्म और अधर्म तथा कर्तव्य और अकर्तव्यको भी ठीक-ठीक नहीं जानता, वह बुद्धि राजसी है। अज्ञानसे ढकी हुई जो बुद्धि धर्मको अधर्म मानती है तथा सभी बातों-को उलटा समझती है, वह बुद्धि तामसी है"। (१८। ३०–३२)

कुशाग्र बुद्धि जीवन-यात्राके लिये आवश्यक तो है, किन्तु साधुता नहीं है और न साधुता या सदाचारका प्रमाणपत्र ही है। तीव्र बुद्धिवाले कुछ लोग खूनी, डाकू और जालसाज बन जाते हैं।

सभी जानते हैं कि सत्ता भ्रष्ट करती है। बौद्धिक सत्ताका भी वही प्रभाव होता है। इसलिये बुद्धि जितनी तेज हो उतना ही ऊँचा और सात्त्विक चरित्र उसे कुमार्गपर जानेसे रोकनेके लिये चाहिये। बुद्धिके साथ-साथ नैतिकताका भी विकास करना चाहिये। वह बुद्धि व्यर्थ है, जो कर्तव्य-पालन और परोपकारकी शिक्षा नहीं देती। वह बुद्धि खतरनाक है, जो मनुष्यको दुराचारकी ओर प्रेरित

करती है। बुद्धि तभी बुद्धियोग बनती है, जब वह मनुष्यको कर्म-सदाचारी और निःस्वार्थ बनाती है।

हमारे शास्त्रोंकी एक विशेष देन—यह उपदेश है कि सत्कर्म करते रहनेसे बुद्धि तीव्र और निर्मल होती है। कुकर्मोंमें लगे रहनेसे बुद्धि मलिन हो जाती है और अन्तमें इतनी कुटिल हो जाती है कि व्यक्ति अपनी मूर्खतासे अपना ही सर्वनाश कर डालता है। मनुष्य स्वस्थ और सुखी तभी रह सकता है जबतक वह अपनी बुद्धिका प्रयोग करता रहता है और सत्कार्योंमें लगा रहता है।

विज्ञान और धर्म

मानव-मस्तिष्ककी दो महान् उपलब्धियाँ हैं। एक हमारे ऋषि-मुनियोंका खोजा हुआ ब्रह्मज्ञान। दूसरे विज्ञानके अनुसंधान, जिसमें पिछले सौ वर्षोंमें पश्चिमके देशोंने आश्चर्यजनक उन्नति की है। मोटे तौरपर विज्ञान जीवन-निर्वाहके साधन जुटाता है, धर्म जीनेकी कला और साधनोंका उचित उपयोग सिखाता है। विज्ञान और धर्म मनुष्यकी अलग-अलग आवश्यकताओंको पूरा करते हैं। वे एक-दूसरेके मित्र और सहायक हैं, शत्रु नहीं। मनुष्यको दोनों चाहिये तथा दोनोंको एक-दूसरेकी आवश्यकता है।

व्यक्तिविशेषपर आधारित धर्म विज्ञानसे कतराते हैं। परंतु हिन्दू-धर्मको ऐसा करनेका कोई कारण नहीं। वह विज्ञानकी तरह शाश्वत सिद्धान्तोंको प्रतिपादित करता है और उन्हींकी तरह अटल तथा अमर है। विज्ञानद्वारा उसके उपदेशोंकी तुलना करनेसे उनका महत्त्व घटता नहीं वरन् बढ़ जाता है। सच तो यह है कि तर्क

और विज्ञानका सहारा लिये बिना उनके गहरे और गूढ़ भावोंको भलीभाँति समझा ही नहीं जा सकता।

परंतु हमे यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि हमारा प्रचलित धर्म शास्त्रोंसे सर्वथा भिन्न, बल्कि विपरीत है। शास्त्रोमें बताये हुए धर्मके चार चरणोमे हम केवल एक अथवा पूजा, ध्यान और जपको तथा चार पुरुषार्थोंमेसे केवल मोक्षको मान्यता देते हैं। धर्मके मूल तत्त्वोकी अवहेलना करनेके कारण ही हमारा समाज प्रायः बलहीन और प्राणहीन हो गया है। समयके प्रहारोंने धर्मके कई मूल्यवान रत्नोंको कूड़ा-करकटसे ढक दिया है। इस कूड़ेकी सफाईके लिये धर्मका वैज्ञानिक अध्ययन आवश्यक है।

गीताके अनुसार योगकी एक परिभाषा है—पीड़ाके बन्धनसे मुक्ति (६ । २३)। विज्ञान और शिल्प-विज्ञान रोग तथा कष्टको घटाते हैं और सुखको बढ़ाते हैं। इसलिये योगके साधनों और चार पुरुषार्थोंमेसे दो अर्थ एवं कामके अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार वे धर्मके महत्त्वपूर्ण अंग हैं। वे आध्यात्मिकताका पोषण कर सकते हैं, किन्तु तभी जब उनके फलोको धार्मिक तरीकोंसे प्राप्त किया जाय और सबकी भलाईके लिये प्रयोग किया जाय।

विज्ञानकी सबसे बड़ी सीख है लोक-कल्याणके लिये पारस्परिक सहयोग और सामूहिक प्रयास। यदि धर्माचार्य और धर्मात्मा लोग भी आपसी विरोध छोड़कर, एक-दूसरेसे मिल-जुलकर संयम, सदाचार और निष्काम सेवा सिखानेके लिये भरसक पुरुषार्थ करें तो शीघ्र ही

नये मानव और नये संसारका निर्माण कर सकते हैं और पृथ्वीको स्वर्ग बना सकते हैं।

धार्मिक विचारोंका परीक्षण

हम बिना शंका किये उन सभी बातोंको मान लेते हैं जो हमें अतीतसे मिली हैं या परम्परा और सत्ताद्वारा स्वीकृत हैं। किंतु जब धर्म-गुरुओंमें मतभेद हो—जैसा बहुधा होता है—तब केवल श्रद्धा और विश्वाससे काम नहीं चलता और सत्यका पता लगानेके लिये अन्य स्वतन्त्र, सार्वभौमिक और प्रामाणिक कसौटियों-का आश्रय लेना पड़ता है।

उदाहरणार्थ, एक विचारधारा कर्मयोगको ध्यानकी भूमिका मात्र मानती है और केवल ध्यानको ही ईश्वर-प्राप्तिका साधन बताती है। दूसरी कर्मयोगको मोक्षके लिये पूर्ण, प्रभावी और यथेष्ट बताती है। तीसरीके अनुसार भगवत्प्राप्तिके लिये कर्मयोग ध्यानयोगके बराबर ही नहीं, बल्कि उससे श्रेष्ठ है (गीता १२।१२)

यह दुविधाकी स्थिति न तो सराहनीय है, न हितकर। ऐसे सभी प्रसंगोंमें हमें ठीक-ठीक निर्णय करना होगा और जनताको साफ-साफ बताना होगा कि जनसाधारणके लिये कौन-सी विचार-धारा तर्क-सम्मत, कल्याणकारी और भगवान्‌की इच्छा तथा योजनाके अनुरूप है। यह तो स्पष्ट ही है कि एक विचारको मान लेनेपर अन्य सभी विचार अस्वीकृत और उपेक्षित हो जाते हैं। यह तो हम अब भी कर ही रहे हैं, किंतु परम्पराके आधारपर। हमें करना केवल इतना है कि सभी मतोंको खूब

ठोक-बजाकर परखे और जो मत तर्क तथा ज्ञान और अनुभवकी कसौटीपर खरा उतरे तथा मानवमात्रके लिये सबसे गुणकारी जान पडे उसीको अपनाये एवं उसीको व्यवहारमे लायें ।

श्रद्धा और तर्क

श्रद्धा मनुष्यके लिये दैवी देन है। जीवनमें उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है । वह धर्मकी कुंजी है और बहुधा धर्मकी सम्मर्थी मानी जाती है। वह ऐसी रहस्यमयी शक्ति है, जो संकटके समय आशा, आत्मविश्वास और साहसकी प्रेरणा देती है । दैनिक-जीवनमें बार-बार उसका सहारा लेना पड़ता है । अपने-अपने मित्रो और मानव-स्वभावपर निष्ठाके बिना हमारा जीवन दूभर हो जायगा । बच्चा अपने बड़ोंपर विश्वास करके ही बहुत-सी बातें सीखता है। एक धर्मात्माके लिये ईश्वरकी निष्ठा सदा सुख, शक्ति और ज्ञान-दायिनी होती है ।

यह सब निष्ठाके अच्छे उपयोग हैं। किंतु श्रद्धाको तर्क, प्रयास और नैतिकतासे संयुक्त करके प्रयोगमें लाना चाहिये, उनसे पृथक् करके नहीं। तर्कका विरोध अथवा अस्वीकार करनेवाली निष्ठा अन्धी होती है। जैसे जीवनोपयोगी वस्तुओको प्राप्त करनेके लिये ईमानदारीसे परिश्रम करनेकी बजाय प्रार्थना, जप और ध्यानका प्रयोग करना । कोई व्यक्ति अथवा जाति अन्धविश्वासके बलपर सुखी या सफल नहीं हो सकती ।

हमारे धर्मग्रन्थ अन्धविश्वासके खतरोंसे खूब परिचित थे। उदाहरणार्थ, महाभारतका कथन है, "यह जानकर कि अमुक

विचार अथवा प्रथा बहुत समयसे चली आ रही है, हम उसके बुरे प्रभावोंपर ध्यान नहीं देते हैं, किंतु ठीक यही होगा कि किसी कार्य-पद्धतिको अपनानेसे पहले उसके परिणामोंपर विचार कर लिया जाय। केवल इसलिये किसी कामको करना कि दूसरे भी उसे कर रहे हैं, ठीक नहीं है।

"मनुष्यको किसी कामको करने या न करनेसे पहले उससे होनेवाले हानि-लाभपर विचार कर लेना चाहिये।

"बुद्धिमान लोग ऐसे कार्योंमें विलम्ब नहीं करते, जिनकी जड़ (आवश्यक परिश्रम) तो छोटी है और फल बड़ा है। ऐसे कामके सम्पन्न करनेमें वे किसी बाधाको नहीं आने देते।"

शंकराचार्यने अपनी अपरोक्षानुभूतिमें बताया है कि ज्ञान केवल विचार और चिन्तनहीसे आता है, ठीक उसी प्रकार जैसे प्रकाशके बिना कुछ भी देखा नहीं जा सकता। इसके अतिरिक्त ठीक-ठीक कारण जाननेके लिये पहले उसकी अनुपस्थिति और फिर उसकी उपस्थितिमें क्या होता है यह पता लगाना चाहिये। तभी कार्य और कारणमें अचूक सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है।

कार्य और कारण, साध्य और साधनमें अटल सम्बन्ध स्थापित करना एवं वाञ्छनीय वस्तुओंको प्राप्त करनेके सुगम और श्रेष्ठ उपायोंको ढूँढ़ना बुद्धिका एक बड़ा काम है। यह ज्ञान हो जानेपर हमें बहुपरीक्षित उपायोंको ही प्रयोगमें लाना चाहिये और संदेहात्मक अथवा दुष्कर पुराने तरीकोंको छोड़ देना चाहिये।

हममेंसे अधिकांश लोग धार्मिक हैं। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष-रूपमें धर्म सदा हमारे साथ रहता है। फलस्वरूप, धर्मसे अलग दीखनेवाली भी कितनी समस्याओंकी जड़ें धार्मिक विश्वासों और प्रथाओंमें छिपी रहती हैं। धार्मिक भ्रमों और भूलोंको दूर करके ही इन समस्याओंका स्थायी और संतोषजनक हल निकाला जा सकता है। जैसे हमको आश्वासन दिलाया जाता है कि इस वर्षमें गरीबी मिटा दी जायगी, किन्तु यह स्वप्न कभी पूरा न हो सकेगा। जबतक धर्मपरायण बहुत-से लोग यह मानते रहेंगे कि सांसारिक काम और वस्तुएँ यहाँतक कि अपने भाइयोंका कष्ट-निवारण और परोपकार भी हमको संसारसे बाँधते हैं एवं परमात्मासे मिलनेमें बाधक हैं।

अपील

हमारे शास्त्रोंने बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है कि जीवनके सभी कामोंमें बुद्धिका प्रयोग करना चाहिये। उन्होंने यह चेतावनी भी दी है कि बुद्धि या तर्कका ह्रास हो जानेसे मनुष्यका नाश हो जाता है और दैव जब किसीको दण्डित करना चाहता है तब उसे लाठीसे नहीं मारता, केवल उसकी बुद्धि हर लेता है।

गीतामें भगवान् कृष्णकी उद्घोषणा है "उन निरन्तर मेरे ध्यानमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं बुद्धि-योग देता हूँ, जिससे वे मुझे ही प्राप्त हो जाते हैं। उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये ही हमें स्वयं उनके अन्तःकरणमें एकीभावसे

स्थित हुआ अज्ञानसे उत्पन्न हुए अन्धकारको प्रकाशमय ज्ञानदीपद्वारा नष्ट कर देता हूँ।" (१०।१०-१२)

भगवान् कृष्ण तो अपने भक्तोंको कृपा करके ज्ञानका जगमगाता हुआ दीप प्रदान करना चाहते हैं, परन्तु आजकलके भक्त उसे हेय और भक्तिको श्रेष्ठ समझते हैं तथा केवल भक्तिहीका वरदान चाहते हैं। परमात्माकी योजना, विधान और इच्छाकी अवहेलना करके हमने बुद्धिके स्थानपर श्रद्धा, विश्वास-भक्तिको जीवन-सारथी बना दिया है। बिना बुद्धिका विश्वास अन्धविश्वास होता है। इसलिये हम न तो दूसरोंकी और न अपनी ही गलतियोंसे सीखते हैं। हमने सोचना-विचारना बन्द कर दिया है। हम धर्म, अधर्म, कर्तव्य, अकर्तव्यके विवेकको खो बैठे हैं, यहाँतक कि अपने हित-अहितको भी नहीं समझते। यही कारण है कि हमारा समाज दीन, दुखी, दुर्बल और दरिद्र होता जा रहा है।

हमारे पूर्वज साहसी और उद्यमी थे। उन्होंने सुदूर देशोंमें जाकर राज्य स्थापित किये और मन्दिर बनवाये। पर ज्यों-ज्यों हमारे जीवनसे बुद्धिका बहिष्कार होता गया हमलोग कमजोर, निरुत्साही और लकीरके फकीर बनते गये। समुद्र पार करना पाप समझा जाने लगा। यद्यपि यह निषेधाज्ञा तो अब समाप्त हो गयी है, किन्तु भाँति भाँतिके अन्धविश्वास और कुरीतियाँ अब भी हमें जकड़े हुए हैं, जैसे छूआछूत, जातिवाद और दहेज-प्रथा।

धर्मद्वारा बुद्धिका तिरस्कार हो जानेके बाद जो थोड़ी-सी मेधा हमारे पास बची है वह नामन है, जो धर्मको अधर्म और सहीको गलत समझती है। उदाहरणार्थ, हमारे शास्त्रोंका महावाक्य है कि जो कुछ भी है सब ब्रह्म है। पर हमलोगोंने यह दृढ धारणा बना ली है कि संसार ब्रह्म नहीं है और जितनी जल्दी हम यहाँसे निकल जायँ उतना ही अच्छा है। वेदोंके अनुसार यह शरीर परोपकारके लिये है और गीताने स्पष्टरूपसे कहा है कि कर्मफल-त्याग ध्यानसे (भी) श्रेष्ठ है। किंतु हम लोगोंकी नवीन खोज यह है कि ध्यान भगवत्-प्राप्तिका अन्तिम, अनिवार्य और एकमात्र साधन है और दूसरोंके साथ भलाई करना एक सस्ती फिलासफी है, जो भगवान्की राहमें हमें बहुत दूर नहीं ले जा सकती है। हमारे शास्त्रोंका आदेश तो यह है कि सब प्राणियोंमें स्थित भगवान्को देखो और पूजो, परंतु प्रचलित धर्म उसका संशोधन और संक्षेप करके केवल अपने भीतर भगवान्की ज्योति देख लेनेको ही साधनाका ध्येय बताता है।

हम वेद और गीताकी दुहाई तो देते हैं, पर हमने उनकी शिक्षाओंको काट-छाँटकर अपने आकार और स्वभावके अनुरूप छोटा बना लिया है। थोड़ी-सी बातोंको समग्र धर्म मानकर हमने शास्त्रोंके बहुत-से मूल्यवान् और जीवनदायी उपदेशोंको त्याग दिया है। स्वामी रामतीर्थ और श्रीअरविन्द दोनोंहीकी सम्मति थी कि भारतवर्षकी अवनतिका मुख्य कारण व्यावहारिक ज्ञानकी कमी अथवा बौद्धिक शक्तिका घट जाना है।

आइये, हम अपने हृदयमें ज्ञानदीपको फिरसे जलायें। आइये, हम जीवनकी वास्तविकताओंको फिरसे समझें और बुद्धि तथा ज्ञानको जीवन-सारथीके रूपमें फिरसे स्वीकार करें। आइये, हम अपनी प्रबुद्ध प्रज्ञाद्वारा छिलकेको गूदेसे अलग करें और परस्पर-विरोधी मत-मतान्तरोंमेंसे अटल सत्यकी खोज निकालें। आइये, हम अपनी सभी मान्यताओं, रीति-रिवाजों और प्रथाओंकी जाँच-पड़ताल करें तथा उन सभीको विषके समान त्याग दें जो हानिकारक सिद्ध हो चुकी हैं, जो मनुष्योंको एक-दूसरेसे लड़ाती हैं या दूर करती हैं, जो हमें कमजोर, अकर्मण्य, शिथिल या गैरजिम्मेदार बनाती हैं या समाजके पिछड़े हुए वर्गोंके प्रति उदासीन करती हैं। साथ-ही-साथ हमें उन विचारोंका उत्कर्ष और प्रचार करना चाहिये जो मानव-जातिको एक-दूसरेके निकट लाते हैं और चरित्र, जीवनके प्रति आदर, आत्म-बलिदान, कर्तव्य-निष्ठा, वफादारी, सहयोग और प्रेमपूर्ण सेवापर जोर देते हैं।

हमें योगवासिष्ठके इन बहुमूल्य शब्दोंको हृदयमें जमा लेना चाहिये—"भगवान् विष्णुकी कितनी ही पूजा-आराधना क्यों न की जाय, उन्हें चाहे जितना भी प्रसन्न क्यों न कर लिया जाय, वे ऐसे आदमीको आत्मज्ञानका वरदान नहीं दे सकते जो स्वयं विचार-मनन नहीं करता।....एक बालककी भी बातको मान लेना चाहिये यदि वह तर्कसंगत हो और ब्रह्माजीकी बातको भी तिनकेके समान ठुकरा देना चाहिये यदि वह तर्कसम्मत न हो।"

वेदान्तका अर्थशास्त्र

बहुत लोगोंका विश्वास है कि धर्म और धन—दोनों परस्पर विरोधी है। बाइबिलमें तो यहाँतक कहा गया है कि धनवान्‌के स्वर्गमें प्रवेश करनेकी अपेक्षा ऊँटका सूईके नाकेमेंसे निकल जाना अधिक सुगम है। हिन्दू-समाजमें भी यह भ्रान्ति काफी फैली हुई है कि सम्पत्ति बुराइयोंकी जड़ है और साधनाके मार्गमें रोड़ा है।

जीवनके सभी पहलुओंका गहरा अध्ययन करनेके बाद हमारे ऋषि-मुनियोंने मानवमात्रके लिये चार प्रमुख उद्‌देश्य या पुरुषार्थ निर्धारित किये—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। जीवनके बिना साधना और भगवत्प्राप्ति नहीं हो सकती और जीवनका निर्वाह बिना अर्थके नहीं हो सकता। यह केवल संतोंका मत ही नहीं वरन् विधिका विधान है, जो चाहे अच्छा हो या बुरा बदला नहीं जा सकता। और न इसे बदलनेकी जरूरत ही है; क्योंकि इसके भीतर काम करके भी मनुष्य सब कुछ प्राप्त कर सकता है।

अभावग्रस्त समाज न सुखी हो सकता है न स्वस्थ, न सुशिक्षित। जो लोग दिन-रात रोटी-दालकी चिन्तामें डूबे रहते हैं, जिनके भूखे नंगे शरीर रोगी और दुर्बल हो गये हैं, क्या उनका मन ध्यान और जपमें लग सकता है? क्या उनसे संयम, सदाचार और अनुशासनकी आशा की जा सकती है? धनके बगैर न तो जीवन

सुखी बन सकता है और न धर्म टिक सकता है। धर्मके कितने काम ऐसे हैं जिन्हें निर्धन मनुष्य कर ही नहीं सकता। इस अटल सिद्धान्तको न समझनेके कारण हमारा समाज अर्थकी अवहेलना करने लगा, पुरुषार्थ और सदाचारको भूल गया, वर्षोतक गुलाम बना रहा और स्वतन्त्रता पा जानेके बाद भी दरिद्रता, भ्रष्टाचार, अकर्मण्यता और अराजकताका शिकार बना हुआ है।

'नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।' हमें इस भ्रममें कदापि न पड़ना चाहिये कि दरिद्रता पुण्य कर्मोका फल है और दीन-दुखी तथा गरीब लोग परमात्माको विशेषरूपसे प्रिय हैं। गीतामें भगवान् कृष्ण अपनेको धनका देवता कुबेर (१० । २३) और धनकी देवी श्री (१० । ३४) बताते है, अर्जुनको उनका स्पष्ट आदेश है कि 'उठ, धन-धान्यसे सम्पन्न राज्यको भोग' (११ । ३३)

वेदोंमें धन और वैभवके लिये अनेक प्रार्थनाएँ हैं। 'हम सौ वर्षतक दुर्बल और दरिद्र न बनें।' 'मैं मनुष्योंमें तेजस्वी और धनवानोंमें अग्रगण्य बन जाऊँ।' 'हम वैभवके स्वामी बनें।' 'सौ हाथोंसे धन कमाओ।' 'अपने पुरुषार्थसे धन कमाओ।'

धन सारे समाजके लिये कमाओ

समाजके बहुत-से व्यक्ति धन कमानेमें असमर्थ है, जैसे बच्चे, बूढ़े, रोगी, विकलाङ्ग और बहुत-सी महिलाएँ तथा साधु। इसलिये जो लोग धनोपार्जनमें लगे हैं उन्हें सारे समाजकी आवश्यकताओंके अनुरूप धन कमाना चाहिये और उसे सारे समाजके लिये खुले हाथसे खर्च भी करना चाहिये। जो समाजसे लेता तो है पर समाजको देता

कुछ नहीं वह चोर है (३ । १२) । जो केवल अपने लिये खाना पकाता है वह पाप खाता है (३ । १३) और जो संसारचक्रके सञ्चालनमें योगदान नहीं देता उसका जीवन व्यर्थ है (३ । १६) जो दूसरोंके लिये जरा भी कष्ट नहीं उठाता वह लोक और परलोकमें कहीं भी सुखी नहीं हो सकता (४ । ३१) ।

सच तो यह है कि धन भगवान्‌हीका एक रूप है, भगवान्‌हीकी कृपा और शक्तिसे मिलता है और भगवान् अर्थात् समष्टि या समाजहीका है । इसलिये सबकी भलाईके लिये ही उसका उपयोग होना चाहिये । धन किसी धनीकी मिलकियत नहीं, केवल धरोहर मात्र है ।

इस विषयमें श्रीअरविन्दने अपनी पुस्तक "माता"में लिखा है—"रुपया एक विश्वव्यापी शक्तिका चिह्न है......वह जगत्‌की पूर्णताके लिये अनिवार्य है...यह शक्ति ईश्वरकी ही है ।

"कुछ लोग धनको छूना भी पाप समझते है और दरिद्रता एवं अपरिग्रहको ही एकमात्र अध्यात्मकी अवस्था मानते हैं । पर यह भूल है । इससे यह शक्ति दानवी शक्तियोंके ही हाथमें रह जाती है । सारा धन ईश्वरका है और साधकके लिये श्रेष्ठ पराबुद्धिका मार्ग यही है कि ईश्वरके लिये इसे फिर जीत ले और दैवी पद्धतिसे दैवी जीवनके लिये इसका उपयोग करे ।... सारी सम्पत्ति भगवान्‌की है । जिनके कब्जेमे यह है वह इसके स्वामी नहीं केवल ट्रस्टी या न्यासी है ।"

वेदोंमें अगर एक ओर यह आदेश है कि सौ हाथसे धन कमाओ तो दूसरी ओर यह आदेश भी है कि एक हजार हाथसे दान करो 'दान करनेसे धन कभी नहीं घटता। दानशील कभी दुखी या दरिद्र नहीं होते, बल्कि अमरत्वको प्राप्त होते हैं।' धर्मके लिये जितना महत्त्व धनोपार्जनका है उससे कहीं अधिक परोपकारका है।

हर कोई यह चाहता है कि जो धन उसने कमाया है वह सदा उसीके पास रहे। पर वास्तवमें होता यह है कि मरते समय सारी दौलत यहीं छूट जाती है। हाँ, एक सहज उपाय है सम्पत्तिको साथ ले जानेका। जो धन तुम दूसरो या समाजकी भलाईमें लगा देते हो वह वैकुण्ठ या परमार्थके बैंकमें पहुँच कर तुम्हारे खातेमे जमा हो जाता है। वह सदाके लिये तुम्हारा हो जाता है।

धन कमानेके धन्धे

धन कमानेके लिये अनेक उद्योग-धन्धे हैं। लोकसंग्रहके यह सभी काम भगवान्के काम है, भगवान्की पूजा है और भगवत्-प्राप्तिके साधन है। सांसारिक दृष्टिसे विभिन्न उद्यम ऊँचे-नीचे समझे जाते हैं। परंतु भगवान्को तो सभी समान रूपसे प्रिय हैं। और सभी भगवान्तक पहुँचानेमें समर्थ हैं।

गीताका मनपसद योग नित्य, सतत या पूर्णकालिक और सर्वतो-मुखी योग है, और इसमेंसे सांख्य और योगकी समानता (५।४,५) सब उद्यमोकी समानता (१८।४५,४६) तथा कर्मयोग और [कर्म] सन्यासकी समानता (३।१) के महत्त्वपूर्ण उपसिद्धान्त निकलते हैं। भगवत्-प्राप्तिके लिये

किसी विशेष क्रियाकी जरूरत नहीं, बल्कि आवश्यक यह है कि सारा काम निपुणतासे और अनासक्त होकर किया जाय (३ । १९), या सब भूतोमें स्थित परमात्माकी आराधना समझकर किया जाय (६ । ३१), या परम पुरुषको समर्पण करके किया जाय (९ । २७-२८) जो सब प्राणियोंके रूपमें सदा हमारे समक्ष विद्यमान और सुलभ है (७ । ७, ९, १९) ।

इस सिद्धान्तने गीताधर्मको सार्वभौम और लोकतन्त्रात्मक बना दिया है । इसके सिवा कोई दूसरा सिद्धान्त न तो तर्कसम्मत और न्यायसंगत होता और न उस परमेश्वरके लिये शोभनीय ही होता जो सबमें समान रूपसे व्याप्त है और सबको समान रूपसे प्यार करता है (९ । २९, १३ । २७) ।

शास्त्रोंके इन सब उपदेशोंकी अवहेलना करके प्रचलित धर्मा-धार्मिक कृतियोंको ही भगवत्प्राप्तिका एकमात्र साधन बताता है । यह व्यापक विश्वास पुरुषार्थ और नैतिकता दोनोंके लिये घातक है । इसीने आलस्य और भ्रष्टाचारको प्रोत्साहन देकर समाजको दरिद्र, दुर्बल और दुखी बना दिया है । इसीने हमारे समाजके सबसे पिछड़े वर्गको अछूत बना रखा है जिसके कारण वे दूसरे धर्मोंकी शरणमें जा रहे हैं । सबको समान वेतन तो नहीं दिया जा सकता किंतु सबको और सबके कामको सम्मान देनेमें तो कोई कठिनाई नहीं— सिवा अपने अहंकारकी ।

इस गलत विचारधाराका एक और दुष्परिणाम यह है कि अच्छे लोग सांसारिक कार्योंकी ओरसे उदासीन हो जाते हैं और

सारे लौकिक उद्योग-धन्धे और शासन अधिकांशतः उन लोगोंके हाथमें आ जाते हैं जिनकी धर्ममें कोई आस्था नहीं। इसलिये हमारे देशमें समर्पित और निःस्वार्थ कार्यकर्ताओंका अभाव है। कोई धर्मशील पुरुष सांसारिक कामोंमें तभी अपना मन लगा सकता है जब उसे पूरा विश्वास हो जाय कि उनके करनेसे परमेश्वर उतना ही प्रसन्न होगा जितना पूजा-पाठसे।

भिक्षा-वृत्ति

हमारे देशमें एक धन्धा बहुत प्रचलित है—भीख माँगना। संन्यासियोंके लिये शास्त्रोंमें इसका विधान है। इस प्रथासे साधुओंका समाजसे घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहता था। साधुओंकी देख-भालका भार समाजपर रहता था और साधुलोग समाजके प्रति अपने उत्तर-दायित्वको समझते थे। दुर्भाग्यवश, संन्यासियोंकी देखा-देखी दूसरे भक्त भी यह समझने लगे कि भीख माँगना साधुताका लक्षण है और भक्तको किसी व्यवसायमें न फँसकर केवल भगवान्‌हीसे माँगना चाहिये।

इस प्रकार उद्योगोंमें सबसे अधिक धार्मिक भीख माँगनेका पेशा बन गया है। मेहनत करके अपने पैरोंपर खड़े होनेकी बजाय भक्त भगवान्‌के आगे, निर्धन धनीके आगे, फकीर राहगीरके आगे और सारा देश अन्य देशोंके आगे हाथ पसारता रहता है।

मनुष्य हट्टे-कट्टे भिखारियोंसे खुश नहीं होते। क्या भगवान्‌को ऐसे भिखारी पसंद हैं? वेदोंमें उद्योग और पुरुषार्थपर

बल देनेवाली अनेक सूक्तियाँ है। 'क्रियाशील मनुष्य अपने पुरुषार्थसे सुख प्राप्त करता है।' 'मेरे दाहिने हाथमें परिश्रम और बाँये हाथमे विजय है।' निष्क्रिय व्यक्तिका शीघ्र ही नाश हो जाता।' 'अपने पुरुपार्थसे तुम अपने भाग्यका निर्माण कर सकते हो।' 'क्रियाहीन मनुष्य चोर है।' 'हे अग्नि! हम सभी अच्छी वस्तुओको अपने शक्तिशाली कार्योंद्वारा प्राप्त करें।'

गीताका आरम्भ ही इस वातसे हुआ है कि अर्जुन अपने कर्तव्यको छोडकर भिक्षावृत्तिको अपनाना चाहता था। भगवान् श्रीकृष्णने उसको यही उपदेश दिया कि 'उठ खड़ा हो और कर्तव्यरूपी लड़ाईको लड़।' पूरी गीतामें पुरुषार्थपर जोर दिया है न कि भिक्षाटनपर। अपना विश्वरूप दिखाते हुए भगवान्ने फिर कहा—'तू खड़ा हो और यशको प्राप्त कर।' (११।३३)

स्वामी विवेकानन्दने भगवान्से मॉगनेको भी हेय बताया है। 'याचना करना प्रेमकी भाषा नहीं। परमात्मासे भी मोक्ष या दूसरी कोई चीज मॉगना उतना ही निकृष्ट काम है।' उन्होने अपने 'कर्मयोगमें महानिर्वाणतन्त्रके इस वाक्यपर बहुत जोर दिया है।' जो गृहस्थ धन-प्राप्तिके लिये पुरुषार्थ नहीं करता वह नीतिविहीन है। यदि वह धन कमाता है तो सैकडोका भला करता है। अगर धनिक लोग न हो तो सभ्यता, पुण्यशालाओं और धर्मक्षेत्रोंका क्या होगा? धन कमाना बुरा नहीं है; क्योकि गृहस्थ समाजका केन्द्र है। शुद्ध रुपया कमाना और उसे धर्मार्थ खर्च करना प्रभुकी उपासना है। जो गृहस्थ अच्छे साधनोसे और अच्छे

उद्देश्योके लिये धन संग्रह करता है वह परमार्थके लिये वैसे ही प्रयत्नशील है जैसे गुफामें बैठकर प्रार्थना करता हुआ संन्यासी।'

भिक्षावृत्तिको धार्मिकता मान लेना तो भूल है। किंतु बहुतोंको काम न मिलनेके कारण भीख माँगनी पड़ती है। बेरोजगारी हमारे देशकी बड़ी विकट समस्या है जिसके लिये सभी विचारवान्, समृद्ध और नेक लोगोंको चिन्तित होना चाहिये। हमारे धर्माचार्योंको भी इस ओर ध्यान देना चाहिये और देशकी सारी अर्थव्यवस्थाके नैतिक आधारको सुधारना चाहिये! उद्योगपतियोंका यह विशेष रूपसे कर्तव्य है कि वे अपने-अपने क्षेत्रोंमें रोजगार बढ़ानेका प्रयत्न करें और बेरोजगार लोगोंको छोटे तथा सहायक उद्योग स्थापित करनेमें पूरी सहायता करें।

धन ईमानदारीसे कमाना चाहिये

आध्यात्मिक विकासमें वही धन सहायक हो सकता है जो धार्मिक तरीकोंसे कमाया गया हो। बेईमानीसे, दूसरोंका हक मारकर, रिश्वत या चोर-बाजारीसे, दूसरोंको धोखा देकर, दूसरोंकी मजबूरीका अनुचित लाभ उठाकर धन कमाना पाप है। इससे न तो लोक बन सकता है और न परलोक।

विदुरनीतिके अनुसार "कपटपूर्ण व्यवहार करनेवाले मायावीको वेद पापोंसे मुक्त नहीं करते, किंतु जैसे पंख निकल आनेपर चिड़ियोंके बच्चे घोसला छोड़ देते हैं, उसी प्रकार वेद भी उसे अन्तकालमें त्याग देते हैं।'

पापका रुपया आते समय बहुत लुभावना और सुखकर लगता है, परंतु धीरे-धीरे समय आनेपर, वह पाप फूलने-फलने लगता है और मनुष्यको दुःख-सागरमे डुबो देता है ।

हमारे शास्त्रोंने कहा है कि "सब शुद्धियोमें धन-शुद्धि श्रेष्ठ है । जिसने अन्यायसे किसीका धन नहीं लिया, वही पूर्णतया शुद्ध है । जो केवल मिट्टी, जल आदिसे स्वच्छ हुआ है किंतु धनसे शुद्ध नहीं है, वह अशुचि है । सबसे अधिक चिन्ता हमे चित्त-शुद्धिकी करनी चाहिये । तभी हमारा आचार-व्यवहार और चरित्र निर्मल हो सकेगा और तभी हम सतोगुणको धारण कर सकेंगे ।

कुछ लोग काले धनको सफेद करनेके लिये मन्दिर, पाठशाला, धर्मशाला इत्यादि बनवाते हैं । इस प्रकार जनताकी कुछ सेवा अवश्य हो जाती है और लोगोमे उनकी प्रतिष्ठा हो जाती है । किंतु काले धनका अधिकांश भाग तो उन्हींके पास रहता है । इसलिये उन्हें पापसे छुटकारा नहीं मिलता । महाभारतमें साफ-साफ लिखा है कि "जो अधर्मसे कमाये हुए धनसे परलोक-साधक यज्ञादि कर्म करता है, वह मरनेके पश्चात् उसके फलको नहीं पाता; क्योंकि उसका धन बुरे रास्तेसे आया होता है ।'

करोंकी आमदनीसे सरकारका खर्च चलता है और राष्ट्रकी सुव्यवस्था बनी रहती है । इसलिये स्वेच्छासे करोंकी पूरी अदायगी करनी चाहिये । इसको समाज-सेवाका अर्थात् यज्ञ या धर्मका कार्य ही समझनी चाहिये । कर यदि अत्यधिक है तो उन्हें कम करानेके लिये विधिवत् प्रयास करना चाहिये । परंतु करोंकी चोरी करना तो

पाप है। इससे समस्याका हल नहीं होता; बल्कि समस्या और भी जटिल हो जाती है।

हमारे देशमें सभी चीजोंकी कमी रहती है। जरूरतमंदोंकी विवशताका अनुचित लाभ उठाकर लोग कीमतों और किरायोंको मन-माने ढंगसे बढाये चले जा रहे हैं। कुछ हदतक मूल्य-वृद्धि न्यायोचित और अवश्यम्भावी हो सकती है, परन्तु इसका बहुत बड़ा भाग लोभ और स्वार्थपरताके कारण है। मूल्य-वृद्धिने ऐसा उग्र रूप धारण कर लिया है कि हमारे सारे आर्थिक ढाँचेको भयंकर खतरा पैदा हो गया है। लाभ कमानेके दो तरीके हो सकते हैं। एकमें उत्पादन और बिक्रीको अधिकतम और मूल्यों, किरायो तथा करोंको न्यूनतम रखा जाता है। दूसरेमें उत्पादन और बिक्रीको न्यूनतम और मूल्योंको अधिकतम रखा जाता है। इनमेंसे केवल पहला तरीका ही नैतिक है और परमार्थ-साधनमें सहायक हो सकता है। यह भी कोई अच्छी प्रथा नहीं कि उपभोक्ताओंको आकर्षित करनेके लिये मूल्योंको घटानेके बजाय लाखो रुपये विज्ञापनमें व्यय किये जायँ।

सरकार, मिल-मालिक और श्रमिक सभीको जनता-जनार्दनकी सेवा करनेके लिये कीमतें और कर कम-से-कम रखना और जरूरतकी वस्तुओको सबके लिये सुलभ करना चाहिये। इसके विपरीत जगह-जगह हड़ताल और दंगा होता रहता है और पूँजीपति अपना लाभ बढ़ाना चाहते हैं तो कर्मी वेतन बढ़ानेके लिये आन्दोलन करते रहते हैं।

एक ओर दरिद्रता और बेरोजगारी तो दूसरी ओर फिजूलखर्ची और वैभव-प्रदर्शनके दानव खड़े हैं। बहुत-से लोग पैसेके पीछे मतवाले हो रहे हैं। भ्रष्टाचार, जमाखोरी, चोरबाजारी और मुनाफाखोरीका बोलबाला है। जिसके कारण हमारा सारा अर्थतन्त्र जर्जर हो गया है। अर्थ जीवनके लिये आवश्यक जरूर है पर उसके दुरुपयोगके बहुत बुरे परिणाम होते हैं।

दूसरोंको दुःख देकर प्राप्त किया हुआ धन कभी सुख नहीं पहुँचा सकता। हमारे शास्त्रोंके अनेक वाक्योंने इसपर जोर दिया है। "धन सत्य, न्याय और परहितका ध्यान रखते हुए पवित्र साधनोंसे कमाया जाय और उसका जनताके हितमें व्यय किया जाय।" "पापकी कमाई छोड़ दीजिये। कठोर श्रम, अध्यवसाय, पुण्यभाव और सेवाभाव रखकर ही कमाया धन मनुष्यके पास टिककर उसे स्थायी लाभ पहुँचाता है। बेईमानीकी कमाईसे कोई फूलता-फलता नहीं।"

अर्थ और जीवनके सुख

धन जीवनकी आवश्यकताओं और सुख-साधनके लिये जरूरी है। यह सभीका कर्तव्य है कि अपने और दूसरोंके जीवनको सुखी और विकसित बनायें। पर सुख-सुविधाओंका संसारमें अन्त नहीं और उनकी चाह यदि नियन्त्रित न की जाय तो बुरे रास्तेमें चली जायगी और अन्तमें विनाशक सिद्ध होगी।

हमें गीतामें बतायी हुई सुखकी तीन श्रेणियोंको सदा ध्यानमें रखना चाहिये। जो सुख आरम्भमें विषतुल्य और अन्तमें अमृतके समान होते हैं, जो अभ्याससे उत्तरोत्तर अधिक आनन्द देते हैं,

जो समाजके लिये मङ्गलदायी हैं, ऐसे सात्त्विक सुखोंको स्थायीरूपसे अपनाना चाहिये। जो सुख इन्द्रियोंद्वारा मिलता है, जो थोड़ी देर तो अमृत-सा लगता है किंतु लंबे अभ्याससे विष बन जाता है, ऐसे राजसी सुखको बहुत समझ-बूझकर और नपी-तुली मात्रामें ग्रहण करना चाहिये। निद्रा-आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न होनेवाला सुख जो केवल अज्ञानके कारण सुख प्रतीत होता है और जो बुद्धिको और भी शिथिल कर देता है, ऐसा तामसी सुख सर्वथा त्याज्य है। (१८। ३६–३९)

इसी बातको विदुरनीतिमें इस तरह समझाया है। "जिस सुखको सेवन करते रहनेपर भी मनुष्यधर्म और अर्थसे भ्रष्ट नहीं होता, उसका यथेष्ट सेवन करें, किंतु मूढवत् न करे।"

सुखी-जीवनका यह अर्थ नहीं कि जरूरतोंको बेरोकटोक बढ़ाया जाय, भाँति-भाँतिकी अनावश्यक वस्तुओंको बटोरा जाय, शौकों और दुर्व्यसनोंको बढ़ाया जाय या शरीरको इतना आरामतलब बनाया जाय कि छोटे-से-छोटे कामके लिये भी नौकर या सवारी चाहिये।

भागवतका उपदेश है कि 'जितनेसे अपना पेट भर जाय, बस उतनेहीपर अपना अधिकार है। उससे अधिकपर जो अपने-पनका अभिमान करता है वह चोर है और दण्डके योग्य है।' भाग्यवान्‌के सामने भाँति-भाँतिके स्वादिष्ट व्यञ्जन रहेंगे। किंतु वह खायेगा उन्हींको और उतना ही जितना उसके लिये आवश्यक और हितकर है। बाकी सब कुछ दूसरोंका है, समाज और राष्ट्रका है। उनको खुले हाथसे और प्रसन्नमनसे देनेसे जो सुख मिलता है वही सच्चा और अक्षय सुख है जो कभी फीका नहीं पड़ता और लोक-

परलोक दोनोंमें कल्याणकारी है। अपनी कार्य-कुशलता बढ़ानेके लिये उपलब्ध सुख-सुविधाओंका पूरा लाभ उठाना चाहिये; किंतु उनका गुलाम न बन जाना चाहिये जिससे उनके अभावमें अपने मनकी शान्ति भंग हो जाय या अपना काम हो रुक जाय।

हमारे शास्त्रोंने बताया है कि धनकी तीन गति होती है—दान, भोग और नाश। इनमें सर्वोत्तम गति दान है। जो न देता है न भोगता है उसके धनकी तीसरी गति—नाश हो जाती है।

नरसे नारायण, पुरुषसे पुरुषोत्तम बननेके लिये ध्यान, जप या पूजाके साथ-साथ अपने धन, ज्ञान और बलको समष्टि अथवा विश्वरूपी भगवान्‌की सेवामें लगाना भी परमावश्यक है। यही कल्याणका मार्ग है। यही सब शास्त्रोंका सार है।

इस विषयमे दक्षिण भारतके विख्यात धर्मग्रन्थ कुरलके उपदेश भी बड़ा महत्त्व रखते है—

"तपस्वी अपने आत्मिक बलसे भूख सहन करता है और इस प्रकार अपनी शक्तिको और भी बढ़ा लेता है। किंतु स्वयं भूखे रहनेसे भी अधिक श्रेयस्कर है दूसरोंकी भूखको तृप्त करना।

'बड़ी विद्वतासे क्या लाभ यदि वह मनुष्यको अपने शरीरके दुःखके समान ही दूसरोंके दुःख-दर्दको महसूस करना और उसका निवारण करना नहीं सिखाती?

"सत्पुरुष आवश्यकता जानकर ही सेवा करने लगते हैं; किंतु निकृष्ट लोग गन्नेकी तरह तभी सेवा करते हैं जब उन्हें कुचला जाता है।"

अपील

लोकसंग्रह, परहित, यज्ञ, दान और कर्मफल त्याग-जैसे शब्दों-द्वारा यही पाठ पढ़ाया गया है। विदुरनीतिने इस आदर्शको बहुत सरल शब्दोंमें प्रस्तुत किया है—'मनुष्य अपने लिये जो सुख-सुविधा चाहता है वही दूसरेको भी मिले। ऐसा विचार कर अपने उपयोगसे जितना धन बच जाय उसे गरीबोंमें बाँट देना चाहिये। सबको सुख पहुँचानेसे जो सुख प्राप्त होता है, उसे धर्म माना गया है।"

जो बड़ा है वह छोटोंको आदर, प्यार और सेवा दे। धनी धनद्वारा, ज्ञानी ज्ञानद्वारा, शक्तिमान् शक्तिद्वारा, अधिकारी अधिकार-द्वारा, कर्मी श्रमद्वारा समाज-कल्याणमें अपनेको समर्पित करे। और यह सब किसीपर एहसान जताकर या अपनी पूजा करानेके लिये नहीं बल्कि अपने भाइयोंको भगवान्‌का चलता-फिरता प्रतिनिधि या स्वरूप मानकर बड़ी विनम्रतासे करना चाहिये।

यही हमारे शास्त्रोंका बताया हुआ ईश्वरीय समाजवाद है। यही रामराज्य है और यही वैकुण्ठ है, जिसकी स्थापनाके लिये सब पुण्यात्मा और धर्माचार्योंको मिलकर प्रयत्न करना चाहिये।

धन जीवनका और इसलिये धर्मका भी आधार है! हमें धनकी महत्ता और उसके उपार्जन तथा व्ययके सही तरीकोंका जनतामें भरसक प्रचार करना चाहिये। यह समयकी माँग है और भगवान्‌का आदेश भी है।

आध्यात्मिकताका रहस्य

मनुष्यके व्यक्तित्वके अनेक पहलू हैं । उसके पास भाँति-भाँतिके गुण और शक्तियाँ रहती हैं—जैसे लम्बाई, वजन, रंग, स्वास्थ्य, सौन्दर्य, बुद्धि और वाक्-शक्ति । मनुष्योंमें यह गुण अलग-अलग मात्रामें पाये जाते हैं । इसलिये यह प्रश्न उठता है कि क्या इनमेसे कोई गुण आध्यात्मिकताका सार या प्रतीक है ? उदाहरणार्थ, क्या एक स्वस्थ पुरुष एक रोगीकी तुलनामें या बुद्धिमान् मूर्खकी तुलनामें अधिक आध्यात्मिक है ?

अलौकिक शक्तियाँ

इन प्रश्नोंका उत्तर देनेमें शायद कोई कठिनाई न हो; क्योंकि, स्वास्थ्य, सौन्दर्य, बल या बुद्धिकी कोई भी आध्यात्मिकता नहीं मानता । किंतु अलौकिक शक्तियोंको—जैसे असाध्य रोगोंको अच्छा करना, हवामेंसे वस्तुओंको निकाल देना, समाधि लगाना अनेक

लोग साधुताका प्रमाग मानते हैं। रहस्यमयी शक्तियोका संतोसे ऐसा घनिष्ट सम्बन्ध रहा है कि बहुत-से लोग उनके मोहमे पड़कर उनकी प्राप्तिके लिये प्रयास करते हैं और मिलते ही उनका प्रदर्शन करने लगते हैं।

कुछ लोग चमत्कारोको मिथ्या या ढोग समझते है, किंतु धार्मिक लोग अलौकिकको आध्यात्मिक ही मानते हैं। बाईबिलमें चमत्कारोंको पावनताका चिह्न बताया है। हमारे शास्त्र यह स्वीकार करते हैं कि साधनाके मार्गमें आगे बढनेसे स्वतः ही अद्भुत शक्तियोका प्रादुर्भाव हो सकता है, किंतु ऐसी शक्तियोके पीछे पड़ने या उनका प्रदर्शन करनेका निषेध करते है। संत तुकारामका कहना है कि "चमत्कारोंका प्रदर्शन आध्यात्मिकताकी कसौटी नहीं है। जब मनुष्य चमत्कारकी दूकान खोलकर बैठता है तो परमेश्वर उससे दूर चला जाता है। संसार तो बुरा है ही: किंतु उससे भी बुरा है शक्तिके पीछे दौड़ना"।

सच तो यह है कि रहस्यमयी शक्तियाँ केवल संतोके ही पास नहीं वरन् राक्षसो, शैतानों और कुछ सामान्य लोगोके पास भी रहती हैं। सब धर्मोकी पौराणिक कथाएँ और दैनिक जीवनके अनुभवसे यही पता चलता है। अन्वेषकोने दूरकी बात सुनना, दूरकी चीज देखना, दूरकी चीजोको हिला देना या आगे आनेवाली घटनाओको पहलेसे बता देना—इस प्रकारके अनेक सच्चे दृष्टान्तोंको इकट्ठा किया है, किंतु उनका पवित्रता या भक्तिसे कोई सम्बन्ध नहीं मिलता।

*

स्वामी रामतीर्थका कहना है कि "दूसरोंके मनकी बात जान लेने या अन्य अतिमानवीय शक्तियोंके प्राप्त कर लेनेसे यह सिद्ध नहीं होता कि मनुष्य अवश्य ही पवित्र या सुखी है······ जीवन-की क्रियाओंको थोड़ी देरके लिये रोक देना या ऐसी ही अन्य लोकोत्तर शक्तियाँ सुख, मोक्ष या पवित्रताका कोई पक्का प्रमाण नहीं"।

तात्पर्य यह है कि न तो शक्तिको—चाहे वह नैसर्गिक हो या अतिमानवीय——और न धन, सौन्दर्य या ज्ञानको आध्यात्मिकता माना जा सकता है।

हाँ, यह बात याद रखनी चाहिये कि यद्यपि ये चीजे आध्यात्मिकता नहीं हैं, फिर भी वे सब भगवान्‌हीसे मिलती हैं और भगवान्‌की अनन्त श्रीका ही नमूना हैं। जिसके पास ऐसी शक्तियाँ हैं और जो उनका समाज-कल्याणके लिये उपयोग करता है, वह सम्मानके योग्य है। विभूतियोगका तो अर्थ ही यही है।

देवी-देवताओंका दर्शन

हमारे यहाँ यह विचार बहुत प्रचलित है कि स्वप्न, समाधि या जाग्रत्-अवस्थामे संतों या देवताओंका दर्शन करने-वाला मनुष्य बहुत पवित्र होता है और जिसने भगवान्‌के दर्शन कर लिये, वह तो पूर्णताके शिखरपर पहुँच गया, वह कृतकृत्य हो गया तथा उसे अब और कुछ करना बाकी नहीं रहा। अगर यह बात सच होती तो ईसामसीहके सामने खडे लोग

उन्हें गालियाँ न देते और उन्हें शूलीपर न चढाते। इसी प्रकार शिशुपाल और दुर्योधन, जिनकी कई बार कृष्णभगवान्‌से भेंट हुई तथा रावण और कुम्भकर्ण श्रीराम या अन्य देवताओंको देखते ही संत बन गये होते। जब प्राचीन ग्रन्थोंका अध्ययन बिना पूर्वाग्रहके करते हैं तब इस विश्वासका कोई आधार नहीं रह जाता कि केवल महात्माओंको ही देवी-देवताओंके दर्शनका सौभाग्य मिलता है और जिसे भी दर्शन हो गये वह अवश्य ही महात्मा बन गया।

महर्षि रमणका कहना है कि "लोग ईश्वर-दर्शनकी बात करते हैं, किंतु दृश्यका अलग-अलग चित्र खींचते हैं, जिसके बीचमें द्रष्टा स्वयं ही विद्यमान रहता है। सम्मोहक भी आपको बड़े अद्भुत दृश्य और घटनाएँ दिखा सकते हैं। उन्हें तो आप हाथकी सफाई या बाजीगरी कहते हैं, किंतु देवताओंके दर्शनको आप दैवी या आध्यात्मिक मानकर सम्मानित करते है। सच्ची बात तो यह है कि सभी प्रकारके दृश्य अवास्तविक होते हैं, चाहे वे इन्द्रियोंसे, चाहे मनसे शुद्ध विचारके रूपमें देखे जायँ। सच तो यह है····दर्शनका मूल्य उतना ही है जितना दृश्य-का। तात्पर्य यह कि जिस स्तरका द्रष्टा होता है उसी स्तरका उसे दर्शन होता है।"

गीताने परम्परागत क्षणिक दर्शनोंकी सराहना न करके केवल उस स्थायी और विश्वरूपी दर्शनपर जोर दिया है, जिसमें सर्वत्र, हर समय और सब प्राणियोंमें परमात्मा दिखायी देता है—

"जो पुरुष सब भूतोंमें मुझे ही देखता है और सब भूतोंको मुझ वासुदेवके अंदर देखता है, उसके लिये मैं कभी ओझल नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता (६।३०)। जो पुरुष सब नाशवान् चराचर भूतोंमें अविनाशी परमेश्वरको समभावसे स्थित देखता है, वही (वास्तवमें) देखता है" (१३।२७)।

अपनेको भगवान्‌के सदृश बनाइये

जिस तरह किसी पदार्थके रासायनिक और औषधीय गुण उसके भौतिक गुणोंसे बिल्कुल अलग होते हैं, उसी तरह मनुष्यके आध्यात्मिक गुण भी शक्ति, सुन्दरता, आकार और डीलडौलसे बिल्कुल अलग होते हैं। तो आखिर आध्यात्मिकता है क्या चीज ? थोड़े शब्दोंमें कहा जाय तो आध्यात्मिकता है चरित्र, नेक बनना और नेकी करना। सदाचारके पौधेहीमेंसे साधुताके दिव्य पुष्प और फल निकलते हैं।

गीताने इस विषयपर अपना निर्णय दिया है और आध्यात्मिकता नापनेके लिये कई मापदण्ड बताये हैं। एक बात यह है कि भगवान्‌के दर्शन करना या उनके समीप बैठना काफी नहीं, उनके-जैसे गुणोंको भी अपनाना आवश्यक है। भगवान्‌से साधर्म्य स्थापित करके मनुष्य मोक्ष और अमरताको प्राप्त कर लेता है (१४।२)।

दूसरी बात यह है कि हर-एकको उसी तरह काम करना चाहिये, जैसे परमात्मा करते हैं—कुशलतासे, अथक होकर और फिर भी निस्स्वार्थ भावसे। भगवान्‌के काम करनेका क्या ढंग है यह गीताके कई श्लोकोंसे स्पष्ट है—"यद्यपि मुझे तीनों लोकोंमें

कुछ भी कर्तव्य नहीं है तथा किंचित् भी प्राप्त होने योग्य वस्तु अप्राप्त नहीं है, तो भी मैं कर्म करता ही रहता हूँ" (३ । २२)। "गुण और कर्मोंके विभागसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र मेरे द्वारा रचे गये हैं, फिर भी उनके कर्ता, मुझ अविनाशी परमेश्वरको तू अकर्ता ही जान; क्योंकि कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं रहती, इसलिये मुझे कर्म लिपायमान नहीं करते" (४ । १३-१४)।

दैवी गुणोंको ग्रहण कीजिये

भगवान्‌का प्रतिबिम्ब बननेके लिये यह आवश्यक है कि दैवी गुणोंको ग्रहण करके अपने चरित्रमें आत्मसात कर लिया जाय। गीताने एक पूरा अध्याय दैवी और आसुरी गुणोंके विभाजनपर लगाया है। दैवी सम्पदा मुक्तिके लिये और आसुरी सम्पदा बन्धनके लिये सहायक होती है (१६ । ५)।

दैवी गुणोंकी विशेषता यह है कि वे सब समष्टिरूपी भगवान्‌की सेवा और प्रेमपर आधारित है। उनसे व्यक्ति समाजका उपयोगी और सर्वप्रिय सदस्य बन जाता है। आसुरी गुण जीते-जागते परमेश्वर, अर्थात् समस्त प्राणियोंको दुःख देते हैं और अहं-भावपर आधारित होते हैं, जैसे अभिमान, घृणा, लोभ इत्यादि। इनका मुख्य लक्षण होता है दूसरोंका शोषण, अपमानित और पराजित करना।

जो पुरुष शास्त्रोंके नैतिक आदेशोंका त्याग करके मनमाने ढंगसे आचरण करता है, वह धार्मिक साधनाओंके सारे लाभसे वंचित हो जाता है और न सुख, न सिद्धि, न परमगतिको प्राप्त

करता है (१६ । २३) । वास्तवमें उसकी आराधना तो आराधना ही नहीं (७ । १५) । आसुरी सम्पत्तिवालोंमें सबसे नीच वे लोग हैं, जो अहंकार, बल, घमण्ड, कामना और क्रोधके वशीभूत हैं। ऐसे सबसे द्वेष करनेवाले, पापाचारी और क्रूरकर्मा लोग बारंबार आसुरी योनियोंको प्राप्त होते हैं (१६ । १८, १९) ।

प्रकृतिके तीन गुण

इस विषयकी एक अन्य ढंगसे भी व्याख्या की गयी है। जीवनके गुणात्मक पक्षको तीन श्रेणियोंमें बाँटा गया है और महत्त्वकी बात यह है कि उनका नाम ही तीन गुण—सत्त्व, रजस् और तमस् रखा गया है। सत्त्वसे मनुष्य ऊपरको उठता है, तमस्से अधोगतिकी ओर जाता है और रजस्से बीचहीमें चक्कर काटता रहता है (१४ । १८) ।

हर जगह यह धारणा फैली हुई है कि धार्मिक काम सदा सात्त्विक अर्थात् पवित्र, पावन और ऊपर उठानेवाले होते हैं। किन्तु हमारे शास्त्रोंके अनुसार ये और अन्य सारे काम भी तीन कोटियोंमें विभाजित किये जा सकते हैं। "पृथ्वीपर या स्वर्गमें अथवा देवताओंमें कुछ भी ऐसा नहीं, जो प्रकृतिसे उत्पन्न हुए तीनों गुणोंसे रहित हो" (१८ । ४०) ।

यह बात विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है कि गीताने पूजा, जप और ध्यानको तपस्याकी परिभाषाके अन्दर लानेके बाद (१७ । १४-१६) सारी तपस्याको तीन श्रेणियोंमें बाँट दिया है—सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। धार्मिक कार्य सात्त्विक

तभी होते हैं, जब दूसरोंकी या समाजकी भलाईके लिये किये जायँ। अपने स्वार्थ, मान, बड़ाई, धन और वरदान पानेके लिये किये गये सारे धार्मिक कार्य राजसी होते हैं और उनसे मनुष्यका आत्मिक विकास नहीं होता। दूसरोको दुःख देनेके लिये किये गये धर्म-कार्य तामस होते हैं और मनुष्यका पतन करते हैं (१७। १७–१९)।

भागवतके एक महावाक्यमें कृष्णभगवान्‌ने बताया है कि "जो भी काम मेरे लिये या फलेच्छा छोड़कर किये जाते हैं, वे सात्त्विक होते हैं। जो काम फलेच्छा रखकर किये जाते हैं, वे राजस होते हैं और जो परपीड़नके लिये किये जाते हैं, वे तामस होते हैं।" गीतामें भी यही बात दूसरे शब्दोमें कही गयी है (१८। २३–२५)।

मानवमात्रकी प्रेमपूर्ण सेवा और कुछ नहीं, केवल व्यक्त या प्रकट परमेश्वरकी पूजा ही है। आराधनाका यह अनिवार्य अंग है। इसकी अवहेलना करनेके कारण हमलोग ढेर-के-ढेर राजसी और तामसी प्रकारके भक्त बनते जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त पूजाकी विशेष पद्धतियो, पदार्थों और स्थानोपर अत्यधिक जोर देनेके कारण पश्चिममें लाखो मनुष्य धर्मके नामपर मारे गये और हमारे देशमें हम अपने ही साथियोको बिल्कुल भूल बैठे हैं।

निरपेक्षता आध्यात्मिकताकी कुंजी

पूर्वोक्त विवेचनसे यह आभास मिल गया होगा कि यदि आध्यात्मिकताको एक शब्दमें रखा जा सकता है तो वह शब्द

निस्स्वार्थता है। गीतामें बार-बार निष्कामकर्मपर बल दिया गया है, जिसका अर्थ है पुरुषार्थ करना; किन्तु स्वार्थपूर्ण इच्छाओंका त्याग करना। "जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर, ममता और अहंकारको छोड़कर, स्पृहारहित होकर रहता है वह शान्तिको प्राप्त होता है (२। ७१)। ज्ञानीजन भी उसे पण्डित कहते हैं जिसके सारे काम कामना और संकल्पसे रहित हैं तथा जिसने ज्ञानकी अग्निसे कर्मोंको भस्म कर दिया है (४। १९)। जो पुरुष कर्मके फलको न चाहता हुआ करनेयोग्य कर्म करता है वह संन्यासी है, वही योगी है" (६। १)। उपनिषदोंके अनुसार जब हृदयकी सारी कामनाएँ त्याग दी जाती है तब मानव अमर बन जाता है और जीवनकालहीमें ब्रह्म बन जाता है।

कर्मफलत्यागनेका जो गीताका महत्त्वपूर्ण आदेश है वह आत्म-दान या स्वार्थ-त्यागकी क्रियाको पूरी कर देता है। फलकी इच्छा न करनेपर भी समय आनेपर उद्यमका फल वेतन या इनाम तो मिलता ही है। इस कमाईको भी जनता-जनार्दनकी सेवामें लगा देना चाहिये; उसका स्वयं उपभोग दूसरोंको बाँटकर ही करना चाहिये। यही कर्मफल-त्याग है और गीताके एक क्रान्तिकारी श्लोक (१२। १२) के अनुसार यह ध्यानसे भी श्रेष्ठ है और इससे तुरंत परम शान्ति मिल जाती है।

इससे यह न समझना चाहिये कि ध्यान, जप या भक्तिको छोड़कर केवल कर्मफल-त्यागहीका आश्रय लेना है। कर्मफल-त्याग कोई ऐसी साधना नहीं जो ध्यान, जप या पूजाका स्थान ले सके। यह

तो सभी साधनाओंकी अन्तिम कड़ी है, उनकी उच्चतम कोटि और शिरमौर है। अन्य साधना तभी सात्त्विक बन सकती है जब उसके द्वारा प्राप्त किये हुए पुण्य तथा अन्य अच्छी चीजोंको समाजकी सेवामें अर्पित कर दिया जाय। जिस तरह रुका हुआ पानी सड़ने लगता है उसी तरह दुनियाकी अच्छी चीजें—जैसे धन, स्वास्थ्य, विद्या, यहाँ-तक कि धार्मिक कार्योंद्वारा कमाया हुआ पुण्य भी—यदि सदुपयोगमें नहीं लायी जाती तो आप-से-आप दुरुपयोगमें लगने लगती हैं। वे सब पहले अहंकार पैदा करती हैं और फिर अनाचारकी प्रेरणा देती है। यही कारण है कि तपस्या, दर्शन और वरदानके बलपर रावण राक्षससे महाराक्षस बन गया और फरिश्ते शैतान बन गये।

निःस्वार्थता या निःस्पृहता आध्यात्मिकताका रहस्य है और उसके लिये साधन है कर्मफल-त्याग, कर्मों या कर्तव्योंका त्याग नहीं, वरन् उनमें अहंता-ममताका, उनके फलोंकी लालसा और उनके फलोंका त्याग हो।

'त्यागका अर्थ क्या है?' स्वामी विवेकानन्दने पूछा। "यह कि धर्मका केवल एक ही आदर्श है, निःस्वार्थता। निःस्वार्थ बन जाना, पूर्णतः निःस्पृह हो जाना स्वयं मुक्ति है, क्योंकि इससे भीतरका आदमी तो मर जाता है और केवल भगवान् ही रह जाता है"। अन्य स्थानपर उन्होंने कहा कि "परमात्मा और शैतानमें अन्य किसी बातमें अन्तर नहीं, सिवा निःस्वार्थता और स्वार्थके ···दूसरोंकी भलाईके काममें निरन्तर लगे रहकर हम अपने-आपको भूल जानेका प्रयत्न करते हैं, और अपने-आपको, अपने अहंको भूल जाना

ही एकमात्र बड़ा पाठ है जो हमें जीवनमें सीखना है—मानव-जीवनका सारा सार इस एक शब्दमें रखा जा सकता है—निःस्वार्थता''।

भगिनी निवेदिताकी भी यही सीख थी— 'अनेक आत्माएँ और उनके अनेक स्तर। सबके लिये एक ही मार्ग नहीं हो सकता। किंतु सभी पथोंके अंदर यह महान् नियम काम करता है कि केवल त्यागसे, अपनेको भूल जानेहीसे मनुष्य अपने परम ध्येयकी ओर बढ़ता है·······आइये, हम किसी भी काममें लग जायँ, किंतु उसका उद्देश्य इतना महान् होना चाहिये कि हमें आत्म-विस्मरण करा दे। अपने अहंको भूल जाना ही तो भगवत्प्राप्ति है''।

स्वामी रामतीर्थका कहना है कि ''मनुष्य यदि भगवान्को प्राप्त करना चाहता है तो उसे उसका मूल्य चुकाना पडेगा और वह मूल्य यह है कि अपने तुच्छ अहंभावको पूरी तरह मिटा दो···· ·····अपना काम करके अपनी अहंताका बलिदान करो, उसे भूल जाओ, तो अवश्य ही सिद्धिको प्राप्त कर लोगे''।

श्रीअरविन्दके शब्दोंमें—''अहंता उन ग्रन्थियोंमें सबसे भयंकर है जो हमें अज्ञानसे बाँधे रहती है।······समस्याका हल तभी हो सकेगा, जब अपनी आध्यात्मिक उन्नति करके हम सब प्राणियोंसे एकाकार हो जायँ, उन्हें अपने ही व्यक्तित्वका अंश समझें और उनसे इस प्रकार व्यवहार करें मानो वे हमारे ही अन्य स्वरूप हैं''।

यह बात समझमें भी आती है। मनुष्यका अहं ही जीवात्माको परमात्मासे अलग रखता है। यदि अहंकी दीवार हटा दी जाय, पतली कर दी जाय या पारदर्शी बना दी जाय, तो मनुष्य तुरंत ही परमात्मा, प्रकृति और सब प्राणियोंसे अपनी एकताका अनुभव करने लगेगा और यही सारी साधनाओंका लक्ष्य है।

आजके बड़े-से-बडे विचारक भी मानवमात्रके लिये स्वेच्छा-पूर्वक, निःस्वार्थ श्रमसे अच्छा कोई आदर्श नहीं बता सकते। उदाहरणार्थ—आयन्स्टाइनका कहना है कि "मेरे विचारमें धार्मिक दृष्टिसे प्रबुद्ध वही मनुष्य है जिसने यथाशक्ति अपनेको अपनी स्वार्थपूर्ण इच्छाओंसे मुक्त कर लिया है"।

जैसा कि स्वामी अमितानन्दजीने समझाया—मनुष्यके आध्यात्मिक विकासका क्रम इस प्रकार चलता है—पुरुषार्थ, परार्थ, परमार्थ। मनुष्यका परिश्रम जैसे-जैसे परार्थकी ओर बढता है, उसका सारा जीवन परमार्थकी ओर प्रगति करता जाता है।

पूर्णताके भेद

गीताके अनुसार पूर्णता, मोक्ष और परमेश्वरकी प्राप्ति कोई विशेष काम करनेसे नहीं, बल्कि सभी काम अनासक्त होकर करनेसे (३। १९), सभी प्राणियोमें व्याप्त परमात्माकी पूजा समझकर करनेसे (६। ३१) या भगवान्को भेंट करनेसे (९। २७-२८) होती है। गीताके अन्तिम अध्याय-में श्रीकृष्णका स्पष्ट आश्वासन है (१८। ४५, ४६) कि कोई भी व्यक्ति अपने व्यावसायिक कर्तव्योंको (जो पिछले तीन

श्लोकोंमें अतिसंक्षेपमें बताये गये हैं) दक्षतासे करके परम सिद्धिको प्राप्त कर लेता है ।

भगवत्प्राप्तिका एक अर्थ है पूर्ण हो जाना । किंतु पूर्णताका ठीक-ठीक क्या अर्थ है ? क्या विभिन्न प्रकारके पुरुष—जैसे डाक्टर, वकील, इंजीनियर, अध्यापक और सिपाही—पूर्ण हो जानेपर बिल्कुल एक-से समान रुचि और समान योग्यतावाले बन जाते हैं या उनकी पूर्णतामें कुछ अन्तर रहता है ।

गीताने इस बातपर बार-बार जोर दिया है कि प्रत्येक पुरुषको उसके स्वभावजनित गुणोंके अनुरूप कर्तव्य बाँटे गये हैं । अतः अपने कामको सुचारु ढंगसे सम्पन्न करके वह अपने स्वभाव और शक्तियोंको सुसंस्कृत और संवर्द्धित तो कर सकता है, किंतु किसी अन्य व्यक्तिके स्वभाव और गुणोंको नहीं प्राप्त कर सकता । क्या एक डाक्टर सिद्धि प्राप्त कर लेनेपर आप-से-आप वेदोंका पण्डित, अजेय योद्धा और कुशल उड़ाका बन जाता है ? क्या यह मानना अधिक तर्कसंगत नहीं कि प्रत्येककी पूर्णता उसीके स्वभाव और शक्तियोंकी पूर्णता है और इसलिये दूसरोंकी पूर्णतासे सदा भिन्न रहती है ?

इन प्रश्नोंका उत्तर केवल तर्कके आधारपर देनेके सिवाय हम जीवन्मुक्तोंको मिली हुई योग्यताओंपर विचार करेंगे । यह सभी मानते हैं कि मनुष्य मरनेके बाद वैसा ही रहता है जैसा जीवन-कालमें था । इसलिये जीवन्मुक्तोंकी योग्यताओंको ही पूर्णताकी चरम सीमा मानना पड़ेगा । वास्तवमें कोई भी दो जीवन्मुक्त योग्यता तथा स्वभावमें एक समान नहीं थे । उनमेंसे कोई भी सर्वव्यापी,

सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वगुणसम्पन्न या शाश्वत सुखमें आसीन नहीं दिखायी देता था। उनमेंसे कोई भी ऐसा नहीं था जिसने जीवनमुक्त बननेके बाद संसारकी सभी भाषाओं, ज्ञान-विज्ञान और कलाओंपर अधिकार प्राप्त कर लिया हो।

इससे तात्पर्य यह निकलता है कि किसी व्यक्तिविशेपकी पूर्णता उसीके क्षेत्र और गुणोंतक सीमित रहती है। केवल परम-पुरुष परमेश्वरकी पूर्णता सार्वभौम सर्वतोन्मुखी और सर्वगुणसम्पन्न होती है।

इस प्रश्नपर एक और ढंगसे भी विचार किया जा सकता है। जब हम ब्रह्मकी खोज करते हैं तो क्या किसी ऐसे प्रकाश-बिन्दुतक पहुँचनेका प्रयास करते हैं जिसमें लंबाई, चौड़ाई और मोटाई कुछ भी नहीं? या यह मानना ज्यादा ठीक है कि परमात्माका तेज एक असीम महल है जिसमें प्रवेश करनेके लिये हर एक अपना अलग द्वार चुन सकता है और जिसके अंदर पहुँचकर वह अपना विशिष्ट स्थान ग्रहण कर सकता। हम यह स्वीकार करते हैं कि भगवान्‌तक पहुँचनेके अनेक मार्ग हैं। क्या हम यह भी नहीं मान सकते कि परमात्माकी ही अनन्त श्रेष्ठताके भीतर हर व्यक्तिका अपना अलग गन्तव्य स्थान भी है?

अगर हम इस बातको मान लें कि मुक्त पुरुष भी केवल अपने विशेष क्षेत्रमें पूर्ण होता है, तो धर्म बड़ा सरल और लोक-तान्त्रिक बन जायगा। जब सभी कामोंसे भगवान्‌की प्राप्ति हो सकेगी तो एक पूजा-विधि या व्यवसायको छोड़कर दूसरेको

अपनानेकी, सांसारिक कामोंको तजकर धार्मिक कामोंको अपनानेकी या गृहस्थीको छोड़कर संन्यास लेनेकी कोई जरूरत ही नहीं रहेगी।

अपील

जनसाधारणमें यह विचार फैला हुआ है कि समाधि, भगवद्-दर्शन और मोक्षकी कामना शुद्ध आध्यात्मिक या पारलौकिक है और इसलिये स्वार्थी नहीं है, सात्त्विक है। किंतु यह तर्क सही नहीं; क्योंकि जो कुछ भी केवल अपने लिये है वह स्वार्थपरता है। निःस्वार्थ केवल वही है जो सबकी भलाईके लिये हो।

गोस्वामी तुलसीदासजीके अनुसार सच्चे भक्तके लिये स्वर्ग, नरक और मोक्ष एक समान हैं—

सरगु नरकु अपबरगु समाना। जहँ तहँ देख धरें धनु बाना॥
करम बचन मन राउर चेरा। राम करहु तेहि के उर डेरा॥
जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥

स्वामी विवेकानन्दने भी इसी बातको बिल्कुल स्पष्ट करके कहा है—"याचना करना प्रेमकी भाषा नहीं। भगवान्की भी पूजा, मोक्ष या किसी अन्य पुरस्कारके लिये करना उतना ही नीच कार्य है"। और भी जोरदार शब्दोंमें उन्होंने बताया कि "अगर तुम अपना ही मोक्ष चाहते हो तो नरकमें जाओगे। तुम्हें तो दूसरोंके मोक्षके लिये प्रयत्नशील होना चाहिये"।

हमें भागवतमें श्रीकृष्णके कहे हुए इन शब्दोंसे प्रेरणा लेनी चाहिये—

"सब प्राणियोंमें केवल उन्हींका जीवन सार्थक है जो अपने जीवन, धन, ज्ञान और वचनद्वारा दूसरोंकी भलाई करते हैं"।

"पहाड़से यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि तुम्हारे सारे काम दूसरोंकी भलाईके लिये हों और तुम्हारा सारा जीवन दूसरोंके लिये हो"।

"पेड़से यह शिक्षा लो कि तुमको सदा दूसरोंकी सेवाके लिये तैयार रहना चाहिये"।

श्रीकृष्णके इसी उपदेशकी प्रतिध्वनि आधुनिक युगके महान् वैज्ञानिक आयन्स्टाइनके इन शब्दोंमें मिलती है—"मनुष्य यहाँ (संसारमें) दूसरे मनुष्योंके लिये है।"

आध्यात्मिकताका विकास करनेके लिये हमें अपने अहंको विकेन्द्रित करना चाहिये और सार्वभौमिक बनाना चाहिये, जिससे व्यक्तिका समष्टिसे एकीकरण हो जाय और मनुष्य दूसरोंके दुःख-सुखको अपने दुःख-सुखके समान ही महसूस करने लगे। इसके लिये स्वर्गमें रहनेवाले अदृश्य भगवान्‌की पूजा तो करनी ही चाहिये; किंतु अपने जीवनको दैवी गुणोंसे अलंकृत करके और सेवापरायण बनाकर चलते-फिरते प्रत्यक्ष देवताओंकी सेवाद्वारा पूजा करना भी परमावश्यक है।



मानवका आध्यात्मिक उत्थान

बहुत-से लोग अपने धर्मकी सफलता उसके अनुयायियोंकी संख्यासे या इस बातसे नापते हैं कि उसमें कितने लोग अपना धर्म छोड़कर शामिल हुए या कितने नये चेले बने, उसके मन्दिरों, मस्जिदों या गिरजाघरोंमें कितनी उपस्थिति रही, कितने नये मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर, मठ, आश्रम या अस्पताल बनाये गये या वर्ष-भरमें कितना धार्मिक साहित्य तैयार या वितरित किया गया। निसंदेह यह सब काम समाजको लाभान्वित करते हैं, धर्मका प्रचार करते हैं और उसे जीवित रखते हैं।

परन्तु यह सब साधनमात्र हैं, साध्य नहीं। धर्मका असली उद्देश्य उसकी भावनाको जनसाधारणके हृदयमें प्रविष्ट कराना और उनके जीवनमें गुणात्मक सुधार लाना है। धर्मकी सफलता इसीमें है कि वह नरको नारायण, मनुष्यको देवता, जीवन-मुक्त या आदर्श मनुष्य बनाये; जो सर्वहितकारी या प्रकाशस्तम्भ हों। ऐसे मनुष्यके लिये पूर्ण होना आवश्यक नहीं बल्कि यह है कि दिन-प्रति-दिन अपनेको पहलेसे अधिक अच्छा बनानेका प्रयास करते रहें। इस प्रकारके विकासको कुछ विद्वानोंने दैवीकरणकी और कुछने Humanization मानवीकरणकी संज्ञा दी है।

आदर्श पुरुष और महापुरुष

धर्मका काम है कि बड़ी संख्यामे लोगोंको आदर्श मानव बनाये और साथ-साथ हर क्षेत्रमें अनेक विभूतियाँ या महापुरुष भी

पैदा करें—महान् शिक्षक, वैज्ञानिक, प्रशासक, उद्योगपति, राजनीतिज्ञ, विचारक, नेता और साधु-संत, जो हमारी संस्कृतिको और ऊँचे स्तरतक उठा सकें। हर धर्मवान् व्यक्तिका कर्तव्य है कि अपनेको आदर्श पुरुष बनाये और अपनी शक्तियोंका पूरा-पूरा विकास करे—विशेषकर अपनी उस योग्यताका जिसमें वह धनी है—ताकि देशकी उत्तम सेवा हो सके।

मानवका नवनिर्माण इसलिये और भी आवश्यक हो गया है कि यथेष्ट नैतिक बलके बगैर वह विज्ञानप्रदत्त शक्तियों और सुविधाओंका दुरुपयोग करके विनाशकी ओर न बढ़ जाये।

हमारे शास्त्रोंमें आदर्श पुरुष या सज्जनके लक्षणोंका वर्णन जगह-जगहपर मिलता है। श्रीकृष्णद्वारा भागवतमें बताया गया एक विवरण यह है—"जो दूसरोंका दुःख सहन नहीं कर सकता, जो दूसरोंको कष्ट नहीं देता, जो सबकी ओर सहनशील है, सत्य ही जिसका बल है, जो निष्कलंक है, सम है, सबका सहायक है, जिसका मन वासनाओंसे कलुषित नहीं है, जो जितेन्द्रिय है, जो मृदु, पवित्र, अपरिग्रही है, जो दूसरोंसे सम्मानकी आशा नहीं रखता, जो सबको आदर देनेको तत्पर है, जो केवल करुणाहीसे प्रेरित होकर काम करता है, जो उत्तम दृष्टिवाला है, जो सारे काम मुझको अर्पण करता है और जो मुझे, अर्थात् परमात्माके साथ-साथ समष्टिको भी पूजता है—वास्तवमें वही सर्वश्रेष्ठ पुरुष है।"

यद्यपि धर्मोंका चलन हजारों वर्षसे है, आदर्श मानव और आदर्श समाज बनानेका ध्येय हमसे अब भी दूर है। इसका

कारण यह है कि अपने अनुयायियोंको सात्विक या नेक बनानेमें धर्मको दिलचस्पी है ही नहीं, वह तो उन्हें शीघ्रातिशीघ्र मोक्ष दिलाना चाहता है—वह चाहे जैसे भी हो। सच तो यह है कि संसारमें सर्वत्र परम्परागत धर्मोंकी यही कोशिश रही है कि ऐसे लघु उपाय और मन्त्र खोज निकाले जायँ जिनके द्वारा अपनेको सुधारे बगैर मनुष्य भगवान्‌को प्रसन्न कर सके।

उदाहरणार्थ हिंदू-समाजमें यह धारणा फैली हुई है कि धार्मिक काम सारे पापोंको भस्म कर डालते हैं और मोक्ष दिलाते हैं, धार्मिक कामोंसे ही यह सम्भव है और दूसरे प्रकारके काम समयकी बरबादी और मोक्षप्राप्तिमें बाधक हैं। ईसाई-धर्म तो और भी सस्तेमें मोक्ष दिलवानेका वादा करता है—केवल ईसामसीहमें विश्वास लाना ही मोक्षप्राप्तिके लिये काफी है। ईसाने मनुष्यकी अगली, पिछली और वर्तमान सभी पीढ़ियोंके पाप अपने ऊपर ले लिये हैं, इसलिये मनुष्य चाहे कितना ही पापी क्यों न हो, ईसामें विश्वास करते ही बिल्कुल निष्पाप और पवित्र बन जाता है। दुष्कर्मोंसे बचने और सत्यकार्योंको करनेकी कोशिशसे कोई लाभ नहीं, क्योंकि मुक्ति केवल ईसामसीहमें विश्वास लानेसे ही मिल सकती है और उसके बिना कदापि नहीं।

टालस्टायका कहना है—"यदि मनुष्य किसी उद्धारक प्रार्थना या अन्य धार्मिक क्रियाओंद्वारा मोक्ष पा सकता है तो उसे अच्छे काम करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। एक बाहरी पूजापर आधारित धर्म और सत्य तथा सदाचारके सेवन आपसमें मेल नहीं खाते, सामान्यतः एक दूसरेका अपवर्जन करता है।"

स्पष्ट है कि मनुष्यको आदर्श तबतक नहीं बना सकते जबतक समाजमें यह विचार फैला हुआ है कि मनुष्य बिना नेक, शिष्ट और उद्यमी बने हुए भी आनन्द और मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

सदाचार अनिवार्य है

हमारे शास्त्र पुकार-पुकारकर कह रहे हैं कि केवल अच्छे मनुष्य ही सुखी और भगवान्को प्रिय हो सकते हैं। दुरात्मा, अनाचारी, आलसी लोग, जो दूसरोके सुख-दुःखकी ओरसे उदासीन रहते हैं, न तो सुखके अधिकारी है और न सुखी हो सकते हैं। ऐसे लोगोका आध्यात्मिक प्रगति करना तो बहुत दूर रहा, वह स्वतः ही प्रकृतिके नियमोके अधीन दण्ड और अवनतिको प्राप्त होते हैं।

वाल्मीकिरामायणमें कहा गया है—"धर्मसे सम्पत्तिका उद्भव होता है। धर्मसे सुखका उद्भव होता है। धर्मसे मनुष्य सब कुछ प्राप्त कर लेता है।" महाभारतके अनुसार सदाचारसे ही सुख मिल सकता है। यह भी कहा गया है कि मनुष्य कहीं भी जाकर छिप जाये, पृथ्वीपर या स्वर्गमें या कहीं और, उसके किये पाप और पुण्य उसे खोजकर उसे मिल ही जाते हैं।

अतएव मनुष्यके नवनिर्माणके लिये पहला काम यह है कि संयम, सदाचार तथा उन सद्गुणोको सिखाया जाय जिनका सारे संसारमें आदिकालसे आदर किया जाता है। इस संदेशको हमें प्रत्येक घर, स्कूल और कार्यस्थलतक पहुँचाना है।

हमारे देशके संविधानमें Secularism अर्थात् लौकिकता-पर बल दिया गया है। हम इसे धर्मनिर्पेक्षता समझ बैठे हैं। किंतु उसका वास्तविक अर्थ है लौकिकताका धर्म, लौकिक कामोमें तत्परता अथवा सेवा–धर्म, जिसे कुछ लोग मानवताका धर्म Humanism कहते हैं। परम्परागत पूजा मानवकी सेवाका अपवर्जन करती है। और मानवताका धर्म पूजाका अपवर्जन करता है। परन्तु गीताका बताया हुआ स्वधर्म अर्चना और मानवीयता, पूजाधर्म और सेवाधर्म दोनोंहीपर जोर देता है। पूजा वैकुण्ठमें रहनेवाले अप्रकट परमात्माके लिये है और सेवा प्रकट, व्यक्त परमेश्वरके लिये है जो पृथ्वीपर पशु-पक्षी और मनुष्यके रूपमें विचरता है।

चरित्र और सांसारिक कर्तव्योके प्रति तत्परता धर्मात्मा लोगोंके लिये जितनी आवश्यक है उतनी ही शिक्षाविदों, सरकारी कर्मचारियों, उद्योगपतियो और सभी सेवानियोजकोके लिये भी है। सभीको अपने-अपने दृष्टिकोणसे सदाचारके मूल तत्त्वोका प्रचार करना चाहिये।

हम विभिन्न क्षेत्रोके लिये विकासयोजनाएँ तैयार करते हैं, जैसे कृषि-उद्योग और यातायात। किंतु योजनाओको बनाने और कार्यान्वित करनेके लिये ठीक प्रकारके कार्यकर्ताओंकी जरूरत होती है और कोई भी योजना उतनी ही अच्छी सिद्ध हो सकती है जितने अच्छे उसको चलानेवाले हो। अन्य योजनाओके अतिरिक्त हमें एक मौलिक योजना सुयोग्य और सच्चरित्र मनुष्य बनानेके लिये भी तैयार करनी चाहिये।

आत्म-गठन

वास्तवमें चरित्र-निर्माणका अर्थ है अपना गठन, जिसके लिये मुख्यत. तीन प्रकारके पुरुषार्थकी आवश्यकता होती है—तैयारी, पूजा और सेवा। जीवनके आरम्भिक कालमें मनुष्यको चाहिये कि अपने शरीरको स्वस्थ और सबल बनायें, बुद्धिको शिक्षित करे, उपयोगी ज्ञानका उपार्जन करें, और किसी उद्यमके लिये अपनेको सुयोग्य बनायें। इसी तरह प्रत्येक दिनका कुछ भाग उस दिनके कामके लिये तैयार होनेमें लग जाता है। निद्रा, विश्राम तथा मनोरञ्जन तैयारीहीके अन्तर्गत आते हैं।

व्यावहारिक कामोंको दो भागोंमें बॉटा जा सकता है, अर्थात् पूजा और सेवा। आराधना तथा दूसरे धार्मिक काम मनुष्यके सुख और विकासके लिये आवश्यक हैं। यह सब उस मनुष्यकी बड़ी सहायता करते हैं जो सच्चे दिलसे अपना सुधार करनेमें लगा हो। इन कामोंका सबको, विशेषकर उन लोगोंको जिनके पास अवकाश है, लाभ उठाना चाहिये। रामायण, महाभारत तथा गीता-जैसे लोकप्रिय ग्रन्थोंके अध्ययन और पूजा-प्रार्थनामें कुछ समय प्रत्येक दिन लगानेकी आदत बालपनमें ही डाल लेनी चाहिये।

प्रत्येक मनुष्यको अपने लिये साधना विशेषको चुनने और उसकी मात्रा निश्चित करनेकी स्वतन्त्रता होनी चाहिये। सामान्य नियम तो यह है कि अपने लिये वही साधना सर्वाधिक लाभकारी होगी जिसमें अपना मन लगता हो। जो साधना किसी दूसरेके लिये उपयोगी सिद्ध हुई है, जरूरी नहीं कि आपके लिये भी उपयोगी हो। यहाँपर यह चेतावनी दे देना आवश्यक है कि

पूजाकी किसी पद्धति, पदार्थ या स्थलके लिये दुराग्रह, जो पाश्चात्य धर्मोंकी खासियत है; अतीतमे भयकर युद्ध और खून-खराबा करा चुका है और आज भी दुनियाको लड़ानेवाली प्रमुख शक्तियोंमें है।

पूजासे पहले और बाद मनुष्यको उन दूसरे कामोमे लग जाना चाहिये जो जीविकोपार्जन और जीवनरक्षणके लिये आवश्यक हैं। इन जिम्मेदारियोंको वह कैसे निभाता है यह परम महत्त्वकी बात है।

आदर्श पुरुषको अपने जीवनके लौकिक और पारलौकिक दोनो ही पक्षोंकी देखभाल करनी चाहिये। आदर्श समाजको केवल सच्चे भक्तों, ध्यानी और साधुओंकी ही नहीं वरन् बड़ी संख्यामें आदर्श पुत्र और पुत्री, आदर्श विद्यार्थी, आदर्श गृहस्थ, आदर्श माता-पिता, आदर्श नागरिक, आदर्श सेवानियोजक और आदर्श कर्मचारी, आदर्श उद्योगपति, राजनीतिज्ञ, आदर्श धर्माचार्य और धर्मनेता—वरन् सभी क्षेत्रोंमे बड़ी संख्यामे आदर्श पुरुषोंकी आवश्यकता है। इसलिये एक सुखी तथा सुव्यवस्थित समाज बनानेके लिये हमें आराधना तो सिखानी ही चाहिये; साथ-साथ संयम, नैतिकता, कर्तव्यनिष्ठा और मानवमात्रकी सेवापर भी पूरा जोर देना चाहिये।

सच तो यह है कि लौकिक कार्य व्यक्त या प्रकट भगवान्‌की पूजा हैं। वह न केवल जीवनको बनाये रखने वरन् उसके आध्यात्मिक विकासके लिये भी नितान्त आवश्यक हैं। पूरा हिसाब लगानेपर पता चलता है कि लौकिक कार्योंसे ही धार्मिक कार्योंका आध्यात्मिक मूल्यांकन हो सकता है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, धार्मिक काम तभी सात्त्विक या कल्याणकारी बन सकते है जब वह तथा दूसरे काम सबकी भलाईके

लिये किये जायँ। ध्यानके फलका त्याग कर देना ध्यानसे श्रेयस्कर है। यदि कोई मनुष्य दूसरोका अपमान करता है तो उसकी पूजा नहीं हो सकती। और जो दूसरोकी भलाईके लिये प्रयत्न नहीं करता वह व्यर्थ ही जीता है, उसे लोक या परलोकमें कहीं भी सुख नहीं मिल सकता।

तीन प्रकारके सांसारिक काम

सांसारिक काम, जो समाजका अनुरक्षण करते हैं, तीन प्रकारके होते हैं। सर्वप्रथम स्नेहका परिश्रम है, जो घरोमें किया जाता है। आध्यात्मिकताका श्रीगणेश परिवारमें होता है। जिस प्रेमसे माता-पिता अपने बच्चोका पालन-पोषण करते हैं वह भगवान्‌की आँखोमें कितना मूल्यवान् और पवित्र होता है, इसका अनुमान इससे लगता है कि हमारे धर्मग्रन्थोंमें आदेश है कि माता-पिताको देवतुल्य समझो।

दूसरे प्रकारके कृत्य दानके कृत्य हैं। इनका आध्यात्मिक मूल्य काफी है। दान-कृत्योका मूल्य तब और भी बढ़ जाता है जब वे निःस्वार्थभावसे और अपने पसीनेकी कमाईसे किये जाते हैं।

दान-कृतियोके कुछ पहलुओंपर ध्यान देना आवश्यक है। भिखारियोको दान देना अच्छा है, पर भिखारियोका अस्तित्व गरीबी और भूखका द्योतक है। यह दोनो समाजके लिये कलंक है। इस समस्याका हल फकीरोको टुकड़ा डालकर नहीं हो सकता। इसके लिये तो यह आवश्यक है कि देशका आर्थिक विकास हो और सबको काम मिले।

दानके धनपर निर्भर रहनेवालोंको दूषित धनके खतरोंसे सावधान रहना चाहिये। बेईमानीके धनका बराबर प्रयोग करनेसे विवेक विकृत, दृष्टि सीमित और बुद्धि मन्द हो जाती है। महाभारतमें यह बात स्पष्ट रूपसे बतायी गयी है। धृतराष्ट्रका अन्न खानेके कारण महाभारत-युद्धमें भीष्मने दुर्योधनका पक्ष लिया, यद्यपि वह जानते थे कि दुर्योधन अन्याय कर रहा था। एक अन्य कथामें है कि एक पुण्यात्मा ब्राह्मण मन्त्रीने एक बेईमान पुरुषके यहाँ भोजन किया। उसके बाद वह राजमहलमें गया और रानीका एक कण्ठहार चुरा लिया। कुछ दिन बाद, जब अशुद्ध भोजनका प्रभाव जाता रहा, उसकी सुबुद्धि लौट आयी, तब उसने कण्ठहारको क्षमायाचनाके साथ लौटा दिया।

हमारी आजकलकी अर्थ-व्यवस्थामें बड़े-बडे चन्दे काले धनसे आते है। इस कारण राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा अन्य बड़ी-बडी संस्थाओका जो दान स्वीकार करती है, दोहरा प्रभाव पड़ता है। वह जनताका कुछ भला तो अवश्य करती है, पर क्योकि वह काले धनको सफेद कर देती है और दानकर्ताओको यश दिलाती है, परोक्षरूपसे वह भ्रष्टाचार, चोरबाजारी तथा धनार्जनकी अन्य असामाजिक क्रियाओंको प्रोत्साहित भी करती है। ऐसी संस्थाओंकी इच्छा अनवरत धनप्राप्तिकी अधिक होती है और भ्रष्टाचार रोकनेकी कम। इससे भी बुरी बात यह है कि ऐसे दानपर निर्भर करनेवाले अधिकांश लोग स्वय ईमानदार होते हुए भी भ्रष्टाचारके मूकदर्शक और समर्थक बन जाते है।

जीविकोपार्जनके कार्य

तीसरे प्रकारके सांसारिक काम समाजके लिये आवश्यक सामान और सेवाओंका उत्पादन करते हैं। जीविकोपार्जनके लिये सच्चा परिश्रम ही धर्मकी नींव है। यही शारीरिक, मानसिक और नैतिक स्वास्थ्यका सर्वोत्तम रक्षक है, चरित्रका सर्वश्रेष्ठ निर्माता है और जीवनके अधिकांश सुखोंका स्रोत है।

यह आपत्ति की जा सकती है कि वेतनके बदले किया गया श्रम निःस्वार्थ नहीं है और इसलिये इसे न तो ईश्वरकी आराधना और न आध्यात्मिक विकासका साधन माना जा सकता है। यह आपत्ति तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि धार्मिक सेवाओंके लिये भी किसी-न-किसी रूपमें व्यय करना पड़ता है, और धर्माचार्योंकी भी देख-भालकी आवश्यकता होती है सेवाकार्योंके बदले उचित पारिश्रमिक ले लेनेसे उनका आध्यात्मिक मूल्य कम नहीं हो जाता। धन स्वयं बुरी चीज नहीं है, बुरा तो वह तब हो जाता है जब उसे कमाने और खर्च करनेमें गलत तरीकोंको अपनाया जाय।

मनुष्यके आध्यात्मिक विकासमें व्यावसायिक कार्योंकी महत् सम्भावनाओं और निर्णायक भूमिकाके बारेमें बहुत कम लोगोंको भान है, किंतु संसारके अधिकांश पात्र इन्हीं व्यावसायिक कार्यों-के बीच और इन्हींके कारण होते हैं। जीवनके इस क्षेत्रमें जबतक आचार-व्यवहारके उच्चतम मानदण्ड लागू नहीं किये जाते, तबतक मनुष्य या संसारके नवनिर्माणकी कोई आशा नहीं की जा सकती।

अपने व्यवसायके विचार, आकांक्षाएँ और काम हमारे जीवनपर छाये रहते है, इसलिये व्यवहारमे हमारे आचार-व्यवहार जितने उच्च होंगे और जितनी शुद्ध हमारी कमाई होगी उतने ही उच्च और पवित्र हम बन सकेंगे।

स्वधर्मके नियमके अनुसार मनुष्य अपना व्यावसायिक काम सम्यक् रूपसे करके ईश्वरकी सच्ची आराधना करता है। स्वधर्मकी परिभाषामें प्रथम स्थान व्यावसायिक कार्योका है। अन्य कार्योका स्थान बादमें आता है। और ऐसे कार्य यदि व्यावसायिक कर्तव्योका विरोध करे तो हानिकारक भी हो सकते है। जिन लोगोंने धर्मको अपना पूर्णकालिक पेशा बना लिया है उनके लिये धार्मिक और व्यावसायिक कर्तव्य एक ही होते है। अन्य लोगोंके लिये भी व्यावसायिक कर्तव्य, यद्यपि वह मुख्यरूपसे लौकिक होते है, प्राथमिकता रखते है। इस बातकी पुष्टि इससे होती है कि गीताने चारो व्यावसायिक वर्गोंके कर्तव्योका वर्णन करते हुए ब्राह्मणोके लिये धार्मिक कर्तव्य और अन्य लोगोके लिये सांसारिक कर्तव्य बताये है। मनुस्मृतिमें शासकोंके लिये यह बात बहुत स्पष्टरूपसे कही गयी है—"राजा या गणपतिको हर समय राज्यके कार्योमें लगा रहना चाहिये। शासकका प्रमुख कर्तव्य है निशिवासर राजकाजमे तल्लीन रहना और कहीं कोई गड़बडी न होने देना। यही उसकी पूजा-पाठ है और यही उसके लिये योग है।"

गीताने कहा है कि दूसरेके कर्तव्यको अपनाना खतरनाक है। गीताका यह उपदेश उन लोगोंके लिये एक चेतावनी है

जो मानते है कि मोक्ष तभी मिलेगा जब सांसारिक कार्योंको त्यागकर धार्मिक कामोमें लगे, जो कि वास्तवमें उन्हीं लोगोंके लिये भगवत्प्राप्तिका मार्ग है जिन्होने धार्मिक कृत्योहीको अपना धन्धा अर्थात् जीविकाका साधन बना लिया है। विद्यार्थी अध्ययनमें मन न लगाकर राजनीतिमें भाग लें, प्रशासक और राजनीतिज्ञ धन कमानेमें लगे रहें--ये भी "पर-धर्मानुसरण" के दृष्टान्त हैं।

आमतौरपर समझा जाता है कि मोक्ष-प्राप्तिके लिये पूजा-अर्चनाके बाद दान-पुण्यका महत्त्व है। किंतु सच्ची बात यह है कि यह दोनों प्रकारके कामोका लोकसंग्रहमें बहुत कम योगदान है। लोकसंग्रहका सुदृढ आधार व्यावसायिक कार्य है जो वेतन लेकर किये जाते है। धर्म और दानके लिये धन आवश्यक है और धन व्यावसायिक कार्योंसे ही प्राप्त किया जा सकता है। व्यावसायिक कार्योंसे शरीररक्षा होती है जिसके बिना आध्यात्मिक विकास असम्भव है। स्पष्ट है कि यदि व्यावसायिक कार्योंकी, जो जीवन, सभ्यता और आध्यात्मिकताके मूलमें हैं, समुचित महत्त्व दिया जाय और उनका सही ढंगसे पालन-पोषण किया जाय तो आध्यात्मिकताका वृक्ष अवश्य पल्लवित होगा और अच्छे एवं सुन्दर फूल-फलोसे लद जायेगा।

आराधनाका सर्वोत्तम स्वरूप

यह स्वतः सिद्ध है कि सर्वोत्तम आराधनासे ही सर्वोत्कृष्ट मनुष्य आदर्श व्यक्ति और महामानव बन सकते हैं। भागवतके अन्तमें श्रीकृष्णने इन सुन्दर शब्दोमें आराधनाका सर्वोत्कृष्ट स्वरूप बताया है—

"मुझे सब भूतोंमें विद्यमान समझे और उसके अनुरूप उनसे मन, वचन और कर्मद्वारा व्यवहार करे—यही सबसे अच्छी आराधना है।"

इस प्रकारकी आराधनाकी कुछ विशेषताएँ और तात्पर्य नीचे दिये जाते हैं।

इस पूजामें धार्मिक और लौकिक कर्म, पूजा, धर्म और सेवाधर्म दोनों ही सम्मिलित हैं। इसमें सब प्रकारके योगोका समावेश है।

यह पूर्णकालिक—नित्य या सतत—योग है जिससे पूजा-कालमें ही नहीं बल्कि हर समय ईश्वरमिलन होता है।

यह बहुमुखी योग है जिसके लिये ईश्वरकी पूजा केवल मन और विचारसे ही नहीं बल्कि वाणी और कर्मसे भी करना आवश्यक है।

इस पूजाके मुख्य आशय हैं—

सर्वश्रेष्ठ योगी वह है जो दूसरोके सुख-दुःखको अपने सुख-दुःखके समान ही जानता है (६। ३२)।

जो पुरुष सबमें परमेश्वरको और सबको परमेश्वरके अन्तर्गत देखता है, वह सदा भगवान्‌का दर्शन करता रहता है (६। ३०)।

प्रत्येक मनुष्यको सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत रहना चाहिये (५। २५)।

सारे काम—चाहे वह धार्मिक हो या लौकिक—भगवान्‌की अर्थात् संसार या समष्टिकी भेंट समझकर करने चाहिये (९। २७)।

पूजा, जप और ध्यान करनेके बाद मनुष्यको सेवा और परोपकारके कामोमें लग जाना चाहिये, जिससे कि कमाया हुआ

पुण्य तथा दूसरी अच्छी चीजें गरीबों और जरूरतमन्दोंको समर्पण की जायँ।

यद्यपि यह पूजा हर समय और हर जगह की जानी चाहिये, इसका सबसे उपयुक्त समय शान्ति और एकान्तमें नहीं वरन् वह है जब आदमी अपने व्यावसायिक कार्य करता है और अनेक लोगोंके सम्पर्कमें आता है। अपना काम धीरे-धीरे करके वह लोगोंको परेशान कर सकता है या दक्षता और तत्परतासे करके उनको सहायता पहुँचा सकता है। इस प्रकार व्यावसायिक कार्यों-द्वारा मनुष्य अपने आध्यात्मिक विकासकी गतिको तीव्र या मन्द कर सकता है।

संक्षेपमें हम कह सकते हैं कि सब भूतोंमें भगवान्‌को देखना और उनके कल्याणके लिये पूरे मनसे प्रयास करना ही अपनेको दिव्य बनानेका सबसे बढ़िया तरीका है। इसके द्वारा ही भगवान्‌से सतत, अटूट और अविकम्पित योग स्थापित किया जा सकता है। इसीसे मनुष्य नित्य-योगी या नित्य संन्यासी बन सकता है।

अपील

सभी धर्मों और धार्मिक संस्थाओंके लिये यह चुनौती है—आदर्श पुरुष और आदर्श स्त्रियाँ बनाना। सभी आदर्श व्यक्ति एक धर्म या सम्प्रदायके नहीं होंगे, एक व्यवसायके नहीं होंगे, उनका पहनावा या भोजन समान नहीं होगा। पर उन सबमें मानवतासे अभिन्नताकी भावना विद्यमान होगी। जीवनको वह पवित्र समझेंगे,

और एक ईश्वरको ही सर्वत्र और सारे विश्वमें देखेंगे, वह जहाँ भी जायेंगे, ज्ञान-प्रेम और आनन्द बिखेरते जायेंगे।

मानवके नवनिर्माणकी योजना असम्भव प्रतीत होती है, पर वास्तवमें यह साध्य है, क्योंकि मनुष्यकी प्रकृतिको सिखाया और सुधारा जा सकता है। एक बात यह भी है कि इस योजनामें भगवान्‌की दया और सहायताकी पूरी आशा की जा सकती है। वेदोंने विश्वास दिलाया है कि ईश्वर अपने भक्तोंकी इच्छा अपूर्ण नहीं रहने देता और श्रीकृष्णने उत्तम इच्छाओंको अपना ही स्वरूप बताया है। बाइबिल भी ऐसी योजनाओंको प्रोत्साहित करती है। "ढूँढो, और तुम पाओगे। खटखटाओ, और दरवाजा खुलेगा।" "मैं तुमको यह भी बताता हूँ—पृथ्वीपर यदि तुममेंसे दो व्यक्ति एक मत होकर कुछ भी माँगें तो स्वर्गमें मेरे पिता उसे पूरा करेंगे। क्योंकि मेरा नाम लेकर यहाँ दो-तीन लोग एक साथ बैठेंगे, वहाँ मैं उनके बीच जरूर पहुँच जाऊँगा।"

निःसन्देह कार्य बहुत बड़ा है, पर यदि बहुत-से लोग एक मन होकर प्रयास करें तो यह अवश्य पूरा किया जा सकता है। वाल्मीकिरामायणमें कहा है "उत्साहमें महान् शक्ति है। इस संसारमें ऐसी कोई भी चीज नहीं है जो उत्साहपूर्वक प्रयास करनेसे प्राप्त न की जा सके।" योगवासिष्ठके अनुसार "मनुष्यकी आत्मा काफी शक्तिमान् है। दुनियामें ऐसा कुछ भी नहीं है जो उचित प्रयत्नसे प्राप्त न किया जा सके।"

इस महान् और पवित्र कार्यमें पहले हमारे धर्माचार्यों और धर्म-उपदेशकोंको ही करनी चाहिये। हमारे यहाँ धर्म-सहिष्णुता

और सहअस्तित्वकी परम्पराएँ दृढ़तासे जमी हुई हैं। इसके आगे एक कदम बढ़कर ही हिंदूधर्मके भीतर तथा अन्य धर्मोंसे सहयोग करके अच्छे मनुष्य और सुखी दुनियाँ बनानेके लिये बड़ा पुरुषार्थ करना चाहिये।

संसारको बदलनेके लिये अति मानुषी उपाय भूतकालमें किये जा चुके, पर वह सदा असफल रहे। इसका ज्वलन्त उदाहरण तिब्बत है, जहाँ तन्त्रद्वारा अलौकिक शक्तियोंके लिये प्रयास एक राष्ट्रीय व्यवसाय बन गया था। आइये, विज्ञानसे सीख और सहायता लेकर अप्राकृतिक उपायोंकी कमियोंको प्राकृतिक तरीकोंसे पूरा करें। आत्माके लिये शरीरका जो महत्त्व है वही आध्यात्मिकता-के लिये लौकिक कृत्योंका है। धर्ममें लगा हुआ मनुष्य धार्मिक कामोंपर जितना ध्यान देता है उतना ही ध्यान हमें सांसारिक

…न कर पाते हैं, पर लौकिक
… सन्देशको देशके कोने-
…क प्रत्येक क्षेत्रमें प्रबुद्ध
…री विभागों, प्रेस-रेडियो
… करनी चाहिये।

…कार करें और आदर्श
… यही वेदान्तका असली
…सेवा होगी। ईश्वरभक्तों
…ाह्वान है।